# राष्ट्र-भाषा—हिन्दी

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के सम्बन्ध
में देश के गण्यमान्य नेताओं,
साहित्य-सेवियों एवं भाषा-
शास्त्रियों के सारगर्भित
विचारों का अपूर्व संग्रह

## सम्पादक की अन्य रचनाएं

◆ कविता

मल्लिका (१९४३)
बन्दी के गान (१९४५)
कारा (१९४६)

◆ उपन्यास

हड़ताल (१९४८)

◆ इतिहास तथा जीवनी

हमारा संघर्ष (१९४६)
नेताजी सुभाष (१९४६)
कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास (१९४७)

◆ संकलन

लाल किले की ओर (१९४६)
गान्धी-भजन-माला (१९४८)
गल्प-माधुरी (१९४८)

◆ निबन्ध

प्रभाकर निबन्धावली (१९४८)

◆ प्रेस में

राष्ट्र-लिपि—देवनागरी
अनीता (उपन्यास)
हिन्दी-साहित्य : नये प्रयोग (आलोचना)
आराधना (कविता)
अञ्जलि (कविता)

# राष्ट्र-भाषा—हिन्दी

सम्पादक

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

जिनके पावन चरणों में बैठकर
मैंने राष्ट्र-भाषा का सक्रिय
अध्ययन किया, उन्हीं
पुण्य श्लोक

आचार्य श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ को सादर

# यह संग्रह क्यों ?

स्वतन्त्रता के स्वर्ण-विहान में देश की अन्य आवश्यक समस्याओं की भाँति 'राष्ट्र-भाषा' और 'राष्ट्र-लिपि' की समस्या भी हमारे सामने प्रमुख रूप से उपस्थित है। इस सम्बन्ध में अभी तक अनेक नेताओं, साहित्यिकों एवं भाषा-शास्त्रियों ने सहस्रों सद्प्रयत्न किये और देश की शिक्षित जनता के समक्ष अपने-अपने विचार-सुझाव उपस्थित किये। उनमें से 'राष्ट्र-भाषा' के सम्बन्ध में व्यक्त किये गए भावों का संकलन इसमें किया गया है। 'राष्ट्र-लिपि' के सम्बन्ध मे प्रकट हुए विचारों का मन्थन हम अपनी शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली दूसरी पुस्तक 'राष्ट्र-लिपि-देवनागरी' में देंगे।

प्रस्तुत पुस्तक को हमने राजनीतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी दृष्टि-बिन्दुओं से सर्वाङ्गीण बनाने का प्रयत्न किया है। आशा है पाठकों को हमारा यह प्रयास अवश्य रुचेगा। क्योंकि इसका संकलन एवं मुद्रण बहुत ही सीमित समय में हुआ है, अतः इसमें त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। सम्भवतः शीघ्रता मे हम इसमें कुछ और महत्त्वपूर्ण विचार न दे सके हों, उनके लिए उपयुक्त सुझावों का समुचित स्वागत करेंगे।

अन्त में इस पुस्तक को जिन नेताओं के विचारों, साहित्यिकों के सुझावों और भाषा-शास्त्रियों के भावों से पोषण मिला है, उन सभी के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

८ दिसम्बर '४८ —क्षेमचन्द्र 'सुमन'

# कहाँ क्या ?

# भूमिका

## : गांधी जी और टण्डन जी का पत्र-व्यवहार :

भाई टंडन जी,

मेरे पास उर्दू खत आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती। सब पूछते हैं, मैं कैसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में रह सकता हूँ और हिन्दुस्तानी सभा में भी? वे कहते हैं, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, जिसमें नागरी लिपि ही को राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जब मेरी दृष्टि में नागरी और उर्दू-लिपि को स्थान दिया जाता है, और जो भाषा न फारसीमयी है न संस्कृतिमयी है। जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ, तब मुझे सम्मेलन में से हट जाना चाहिए। ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नहीं होता है? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहाँ हूँ।

कृपया शीघ्र उत्तर दें। मौन के कारण मैंने ही लिखा है लेकिन मेरे अक्षर पढने में सब को मुसीबत होती है, इसलिए इसे लिखवा कर भेजता हूँ।

आपका
—मो० क० गांधी

०

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
८-६-४५

पूज्य बापूजी, प्रणाम।

आपका २८ मई का पत्र मुझे मिला। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के कामों में कोई मौलिक विरोध मेरे विचार में नहीं है। आपको स्वयं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सदस्य

रहते हुए लगभग २७ वर्ष हो गए। इस बीच आपने हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। वह सब काम ग़लत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी का प्रचार वांछनीय है यह तो आपका सिद्धांत है ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है।

सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है, जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है।

स्वयं वह हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू शैली का नहीं। आप हिंदी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नही करता; किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंग्रेजी को हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं। सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सदस्यों को हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्य होने में रोक नहीं है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से निर्वाचित प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी एकेडमी के सदस्य हैं और हिन्दुस्तानी एकेडमी हिंदी और उर्दू दोनों शैलियाँ और लिपियाँ चलाती हैं। इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें।

एक बात इस संबंध में और भी है। यदि आप हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अब तक सदस्य न होते तो सम्भवतः आपके लिए यह ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा का काम करते हुए हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में आने की आवश्यकता न देखते; परन्तु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं तब उसका छोड़ना उसी दशा में उचित हो सकता है जब निश्चित रीति से उसका काम आपके नए काम के प्रतिकूल हो। यदि आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बढ़ाई है तो विरोध की कोई बात नहीं है।

मुझे जो बात उचित लगी ऊपर निवेदन कर दी। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपकी आत्मा यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते भी नत मस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूँगा।

हाल में हिन्दी और उर्दू के विषय में एक वक्तव्य मैंने दिया था, उसकी एक प्रतिलिपि सेवा में भेजता हूँ। निवेदन है कि इसे पढ़ लीजिएगा।

विनीत—

पुरुषोत्तमदास टंडन।

पुनः—इस समय न केवल आप, किन्तु हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के मंत्री श्रीमन्नारायण जी तथा कई अन्य सदस्य सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति के सदस्य हैं। एक स्पष्ट लाभ इससे यह है कि राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के कामो में विरोध न हो सकेगा। कुछ मतभेद होते हुए भी साथ काम करना हमारे नियंत्रण का अंश होना उचित है। —पु० दा० टंडन

पंचगनी

१३-६-४५

भाई पुरुषोत्तमदास टंडन जी,

आपका पत्र कल मिला। आप जो लिखते हैं उसे मैं बराबर समझा हूँ तो नतीजा यह होना चाहिए कि आप और सब हिन्दी प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें। ऐसा होता नहीं है। और गुजरात में लोगों के मन में दुविधा हो गई है। मुझसे पूछ रहे हैं कि क्या करना? मेरे ही भतीजे लड़का और ऐसे दूसरे, हिन्दी का काम कर रहे हैं और हिन्दुस्तानी का भी। इससे मुसीबत पैदा होती है। पेरीन बहन को तो आप जानते ही हैं। वह दोनों काम करना चाहती हैं। लेकिन अब मौका आ गया है कि एक या दूसरे को छोड़ें। आप कहते हैं वह सही है तो ऐसा मौका आना ही नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि से एक ही आदमी हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा

और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का मंत्री या प्रमुख बन सकता है। बहुत काम होने के कारण न हो सके तो वह दूसरी बात है; और यह मैं कहता हूँ वही अर्थ आपके पत्र का है, और होना चाहिए। तब तो कोई मतभेद का कारण ही नहीं रहता और मुझको बड़ा आनन्द होगा। आपका जो वक्तव्य आपने भेजा है मैं पढ़ गया हूँ। मेरी दृष्टि से हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा बिलकुल आप ही का काम कर रही है, इसलिए वह आपके धन्यवाद की पात्र है। और कम-से-कम उसमें आपको सदस्य होना चाहिए। मैंने तो आपसे विनय भी किया कि आप उसके सदस्य बनें लेकिन आपने इन्कार किया है, ऐसा कह-कर कि जब तक डाक्टर अब्दुल हक न बनें, तब तक आप भी बाहर रहेंगे। अब मेरी दरख्वास्त यह है कि अगर मैं ठीक लिखता हूँ और हम दोनों एक ही विचार के हैं तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। अगर इसकी आवश्यकता नहीं है तो मेरा कुछ आग्रह नहीं है। कम-से-कम दोनों में तो इस बारे में मतभेद नहीं है, इतना स्पष्ट होना चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नहीं है। लेकिन जैसे कांग्रेस में से निकला तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मैं सम्मेलन में से निकला तो भी सम्मेलन की अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूँगा।

जिसको आप मेरे नये विचार कहते हैं वे सचमुच तो नये नहीं हैं। लेकिन जब मैं सम्मेलन का प्रथम सभापति हुआ तब जो कहा था और दोबारा सभापति हुआ तब अधिक स्पष्ट किया, उसी विचार-प्रवाह का मैं अमल स्पष्ट रूप से अमल कर रहा हूँ, ऐसे कहा जाय। आपका उत्तर आने पर मैं आखिर का निर्णय कर लूँगा।

आपका

—मो० क० गांधी

०

: ङ :

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद

पूज्य बापू जी, प्रणाम ।                                   ११-७-४५

आपका पंचगनी से लिखा हुआ १३ जून का पत्र मिला था। उसके तुरन्त बाद ही राजनीतिक परिवर्तनों और आपके पचगनी से हटने की बात सामने आई। मेरे मन में यह आया था कि राजनीतिक कामों की भीड से थोडी सुविधा जब आपके पास देखूँ तब मैं लिखूँ। आज ही सवेरे मेरे मन में आया कि इस समय आपको कुछ सुविधा होगी। उसके बाद श्री प्यारेलाल जी का ६ तारीख का पत्र आज ही मिला; जिसमें उन्होंने सूचना दी है कि आप मेरे उत्तर की राह देख रहे हैं।

आपने अपने २८ मई के पत्र मे मुझसे पूछा था कि—मै कैसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में रह सकता हूँ और हि० प्र० सभा में भी? इस प्रश्न का उत्तर मैंने अपने ८ जून के पत्र में आपको दिया। मेरी बुद्धि में जो काम हि० सा० सम्मेलन कर रहा है उससे आपके अगले काम का कोई विरोध नहीं होता। इस १३ जून के पत्र में आपने एक दूसरे विषय की चर्चा की है। आपने लिखा है कि 'आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें'। मैंने मौखिक रीति से आपको स्पष्ट करने का यत्न किया था, और जिस वक्तव्य की नकल मैंने आपको भेजी थी उसमें भी मैंने स्पष्ट किया है कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी हिन्दी और उर्दू दोनों सीखें, सहमत नही हो पाता। मेरी बुद्धि स्वीकार नही करती कि आपका यह नया कार्यक्रम व्यावहारिक है। मुझे तो दिखाई देता है कि बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया आदि बोलने वाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेंगे।

हिन्दी और उर्दू का समन्वय हो इस सिद्धान्त में पूरी तरह से मैं आपके साथ हूँ। किन्तु यह समन्वय, जैसा मैंने आपसे बम्बई में निवेदन किया था और जैसा मैंने वक्तव्य मे भी लिखा है, तब ही सम्भव है जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएँ इस प्रश्न

में श्रद्धा दिखायें। मैं ने इस प्रश्न को प्रयाग में प्रान्तीय हि० सा० स० के सामने थोड़े दिन हुए रखा था। मेरे अनुरोध से वहाँ यह निश्चय हुआ है कि इस प्रकार के समन्वय का हिन्दी वाले स्वागत करेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उर्दू की भी समस्याएँ इस समन्वय के सिद्धान्त को स्वीकार करें। उर्दू के लेखक न चाहें और आप और हम समन्वय कर लें यह असम्भव है। इस काम के करने का क्रम यही हो सकता है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, नागरी-प्रचारणी-सभा, काशी विद्यापीठ, अंजुमने तरक्कीये उर्दू, जामिया मिलिया तथा इस प्रकार की दो-एक अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों से निजी बातचीत की जाय और यदि उनके संचालकों का रुझान समन्वय की ओर हो तो उनके प्रतिनिधियों की एक बैठक की जाय और इस प्रश्न के पहलू पर विचार हो। भाषा और लिपि दोनों ही के समन्वय का प्रश्न है, क्योंकि अनुभव से दिखाई पड रहा है कि साधारण कामों में तो हम एक भाषा चलाकर दो लिपि में उसे लिख लें, किन्तु गहरे और साहित्यिक कामों में एक भाषा और दो लिपि का सिद्धान्त चलेगा नहीं। भाषा का स्थायी समन्वय तभी होगा जब हम के लिए एक साधारण लिपि का विकास कर सकें। काम बहुत बड़ा अवश्य है, किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से स्पष्ट ही बहुत महत्व का है।

मेरे सामने यह प्रश्न १९२० से रहा है किन्तु यह देखकर कि उसके उठाने के लिए जो राजनीतिक वायुमंडल होना चाहिए वह नहीं है, मैं उसमें नहीं पडा और केवल राष्ट्र-भाषा के हिन्दी रूप की ओर मैंने ध्यान दिया—यह समझकर कि इसके द्वारा प्रान्तीय भाषाओं को हम एक राष्ट्र-भाषा की ओर लगा सकेंगे। मैं स्वीकार करता हूँ कि पूर्ण काम तभी कहा जा सकता है कि जब हम उर्दू वालों को भी अपने साथ ले सकें। किन्तु उस काम को व्यावहारिक न देखकर देश की अन्य भाषा-भाषी बड़ी जनता को हिन्दी के पक्ष में करना एक बहुत बड़ा काम राष्ट्रीयता के उत्थान में कर लेना है। अस्तु, इसी

दृष्टि से मैंने काम किया है। उर्दू के विरोध का तो मेरे सामने प्रश्न हो ही नहीं सकता। मैं तो उर्दू वालों को भी उसी भाषा की ओर खींचना चाहूँगा जिसे मैं राष्ट्र-भाषा कहूँ। और उस खींचने की प्रतिक्रिया में स्वभावतः उर्दू वालों का मत लेकर भाषा के स्वरूप-परिवर्तन में भी बहुत दूर तक कुछ निश्चित सिद्धान्त के आधार पर जाने को तैयार हूँ। किन्तु जब तक वह काम नहीं होता तब तक इसी से सन्तोष करता हूँ कि हिन्दी द्वारा राष्ट्र के बहुत बड़े अंशों में एकता स्थापित हो।

आपने जिस प्रकार से काम उठाया है वह ऊपर मेरे निवेदन किये हुए क्रम से बिलकुल अलग है। मैं उसका विरोध नहीं करता, किन्तु उसे अपना काम नहीं बना सकता।

आपने गुजरात के लोगों के मन में दुविधा पैदा होने की बात लिखी है। यदि ऐसा है तो कृपया विचार करें कि इसका कारण क्या है। मुझे तो यह दिखाई देता है कि गुजरात के लोगों (तथा अन्य प्रान्तों के लोगों) के हृदयों में दोनों लिपियों के सीखने का सिद्धान्त घुस नहीं रहा है; किन्तु आपका व्यक्तित्व इस प्रकार का है कि जब आप कोई बात कहते हैं तो स्वभावतः इच्छा होती है कि उसकी पूर्ति की जाय। मेरी भी ऐसी ही इच्छा होती है; किन्तु बुद्धि आपके बताए मार्ग का निरीक्षण करती है और उसे स्वीकार नहीं करती।

आपने पेरीन बहन के बारे में लिखा है। यह सच है कि वह दोनों काम करना चाहती हैं। उसमें तो कोई बाधा नहीं है। राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के कार्यकर्ताओं में विरोध न हो और वे एक-दूसरे के कामों को उदारता से देखें—इसमें यह बात सहायक होगी कि हि० प्र० सभा और रा० प्र० समिति का काम अलग-अलग संस्थाओं द्वारा हों, एक ही संस्था द्वारा न चलें। एक के सदस्य दूसरे के सदस्य हों किन्तु एक ही पदाधिकारी दोनों संस्थाओं के हो से व्यावहारिक कठिनाइयाँ और बुद्धि भेद होगा।

इसलिए पदाधिकारी अलग-अलग हों। आपको याद दिलाता हूँ कि इस सिद्धान्त पर आप से सन् ४२ में बातें हुई थीं जब हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा बनने लगी। उसी समय मैंने निवेदन किया था कि रा०प्र०सभा का मन्त्री एक होना उचित नहीं। आपने इसे स्वीकार भी किया था और जब आपने श्रीमन्नारायणजी के लिए हि० प्र० सभा का मन्त्री बनना आवश्यक बताया तब ही आपकी अनुमति से यह निश्चय हुआ था कि कोई दूसरा व्यक्ति रा० प्र० समिति के मंत्री पद के लिए भेजा जाय। और उसके कुछ दिन बाद आनन्द कौशल्यायन जी भेजे गए थे। यही सिद्धान्त पेरीन बहन के सम्बन्ध में लागू है। जिस प्रकार श्रीमन्नारायण जी हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के मंत्री होते हुए रा० प्र० समिति के स्तम्भ रहे हैं, उसी प्रकार पेरीन बहन दोनों संस्थाओं में से एक की मंत्रिणी हो और दूसरे में भी खुलकर काम करें। इसमें तो कोई कठिनता की बात नहीं है। यही सिद्धान्त सब प्रान्तों के सम्बन्ध में लगेगा। संभवतः श्रीमन्नारायण जी उन सब स्थानों में जहाँ रा० प्र० समिति का काम हो रहा है, हिं० प्र० सभा की शाखायें खोलने का प्रयत्न करेंगे। उन्होंने रा० प्र० समिति के कुछ पदाधिकारियों से हिं० प्र० सभा का काम करने के लिए पत्र-व्यवहार भी किया है। आपस में विरोध न हो इसके लिए यह मार्ग उचित है कि दोनों संस्थाओं की शाखाएँ अलग-अलग हों। और उनके मुख्य पदाधिकारी अलग हों। साथ ही मेल और समझौता रखने के लिए दोनों की सदस्यता सबके लिए खुली रहे यह तो मेरी बुद्धि में ऐसा क्रम है जिसका स्वागत होना चाहिए।

आपने मेरे वक्तव्य को पढने की कृपा की और उससे आपने यह परिणाम निकाला कि हिं० प्र० सभा बिलकुल मेरा ही काम करेगी और मुझे उसका सदस्य होना चाहिए। आपने यह भी लिखा कि आपने यह भी लिखा कि आपने मुझसे सदस्य होने के लिए कहा था किन्तु मैंने यह कहकर इन्कार किया कि जब तक अब्दुल हक़ साहब

उसके सदस्य न बनेंगे मैं भी बाहर रहूँगा। यह सच है कि मैं हिं० प्र० सभा का सदस्य नहीं बना हूँ। इस सम्बन्ध में सन् ४२ में काका कालेकर जी ने मुझसे कहा था और हाल मे डा० ताराचन्द ने। आपने बम्बई में पञ्चगनी जाने से पहले एक लिफाफे में दो पत्र मुझे भेजे थे। उनमें से एक में आपने इस विषय में लिखा था। किन्तु मुझे बिलकुल स्मरण नहीं है कि कभी आपने मौखिक रीति से मुझसे ह० प्र० सभा के सदस्य बनने के लिए कहा हो और मैंने अब्दुल-हक़ साहब का हवाला देकर इन्कार किया हो। मुझे लगता है कि आपने एक सुनी हुई बात को आपने सामने हुई बात में स्मृति-भ्रम से परिणत कर दिया है। सन् ४२ में काका जी ने जब चर्चा की उस समय मैंने उनसे मौलवी अब्दुलहक़ तथा उर्दू वालो को लाने की बात अवश्य कही थी। तात्पर्य वही था जो आज भी है अर्थात् यह कि जब तक हिन्दी और उर्दू-लेखक हिन्दी उर्दू के समन्वय में शरीक़ नहीं होते तब तक यह यत्न सफल नहीं हो सकता। हिं० प्र० सभा यदि इस काम में कुछ भी सफलता प्राप्त करेगी तो वह अवश्य मेरे धन्यवाद की पात्री होगी। आज तो हिं० प्र० सभा में शामिल होने में मेरी कठिनता इसलिए बढ़ गई है कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाने के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और लिपियों को अलग-अलग प्रत्येक देशवासी को सिखाने की बात करती है।

यह तो मैंने आपके पत्र की बातों का उत्तर दिया। मेरा निवेदन है कि इन बातों से यह परिणाम नहीं निकलता कि आप अथवा हिं० प्र० सभा के अन्य सदस्य सम्मेलन से अलग हो। सम्मेलन हृदय से आप सबों को अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहने से वह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते हैं वह सम्मेलन का अपना काम नहीं है। किन्तु सम्मेलन जितना करता है वह आपका काम है। आप उससे अलग जो करना चाहते हैं उसे सम्मेलन में रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। —पु० दा० टण्डन

भाई टण्डन जी,

आपका ता० ११-७-४५ का पत्र मिला मैंने दो बार पढ़ा। बाद में भाई किशोरीलाल भाई को दिया। वे स्वतंत्र-विचारक हैं आप जानते होंगे। उन्होंने लिखा है सो भी भेजता हूँ। मैं तो इतना ही कहूँगा, जहाँ तक हो सका मैं आपके प्रेम के अधीन रहा हूँ। अब समय आया है कि वही प्रेम मुझे आपसे वियोग करायेगा। मैं मेरी बात नहीं समझा सका हूँ। यही पत्र आप सम्मेलन की स्थायी समिति के पास रखें। मेरा ख्याल है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या अपनाई नहीं है। अब तो मेरे विचार इसी दिशा से आगे बढ़े हैं। राष्ट्र-भाषा की मेरी व्याख्या में हिन्दी और उर्दू-लिपि और दोनों शैली का ज्ञान आता है। ऐसा होने से ही दोनों का समन्वय होने का हैं तो हो जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुभेगी। इसलिए मेरा इस्तीफा कबूल किया जाय। हिन्दुस्तानी प्रचार का कठिन काम-करते हुए मैं हिन्दी की सेवा करूँगा और उर्दू की भी।

आपका—मो० क० गांधी

०

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद

पूज्य बापू जी, २-८-४५

आपका २९ जुलाई का पत्र मिला। मैं आपकी आज्ञा के अनुसार खेद के साथ आपका पत्र स्थायी समिति के सामने रख दूँगा। मुझे तो जो निवेदन करना था अपने पिछले दो पत्रों में कर चुका।

आपके पत्र के साथ भाई किशोरलाल मशरूवालाजी का पत्र मिला है। उनको मैं अलग उत्तर लिख रहा हूँ। वह इसके साथ है। कृपया उन्हें दे दीजियेगा। विनीत—

पुरुषोत्तमदास टण्डन

◆

# राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

## ( डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद )

देश में इन दिनों राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का जो विवाद उठ खड़ा हुआ है, उसके सम्बन्ध में भी मैं अपने विचार रखता हूँ। साहित्यिक जो भाषा लिखेंगे, वही भाषा आगे चल सकेगी। जो चीज़ जटिल हिन्दी अथवा जटिल उर्दू में लिखी जायगी, वह आगे चलकर मर जायगी। भाषा में जीव है, जीवन-दान करने की शक्ति है। जिस साहित्य में सत्य और सुन्दरता है, वह अवश्य जीवित रहेगा। अच्छी-से-अच्छी भाषा में भी असुन्दर और असत्य चीज़ें चिरस्थायी नहीं हो सकतीं।

मैं इस विवाद को बढाना नहीं चाहता। जो साहित्यिक हैं और अच्छी-से-अच्छी हिन्दी या उर्दू में अपने भावों को रख सकते हैं, वे उसी तरह रखें। भाव पर ही भाषा का जीवन निर्भर है। यदि हम सच्चा सुन्दर साहित्य-निर्माण नहीं कर सकते तो भाषा की सारी कोशिश व्यर्थ है।

सम्मेलन जो करना चाहता है, उसे सोच-समझकर वह करे। इधर-उधर की चीज़ों पर ध्यान देकर अपनी और जनता की शक्तियों का ह्रास न करे। १९३० ईस्वी में दण्डी-यात्रा के समय कुछ लोगों ने महात्मा गान्धी से यह अनुरोध किया था कि आप अपने आन्दोलन के समय

एक ऐसा भाषण कीजिए, जिसका रिकार्ड बनाया जाय ताकि देश के कोने-कोने में आसानी से आपके विचारों का प्रचार हो सके। गान्धी जी ने जवाब में कहा—यदि मेरी बात में सचाई है तो बिना रिकार्ड के ही लोग उसे सुन लेंगे। उसी तरह, जिस साहित्य में सचाई है वह चाहे जिस भाषा में हो, अवश्य जीवित रहेगा। अतएव मैं अपने को इस झगडे से अलग रखना चाहता हूँ।

मैं साहित्यिक नहीं और न होने का दावा रखता हूँ। राष्ट्र-भाषा-प्रचार के काम में मैं रहा हूँ। मैं हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मानता हूँ। इसके प्रचार के लिए मुझसे जो-कुछ बन पडा है, मैंने किया है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य—सम्मेलन के दो कार्य हैं, (१) साहित्य-निर्माण और (२) राष्ट्र-भाषा-प्रचार। इसी दूसरे काम में थोडा सहयोग करने के कारण मैं सम्मेलन के ऊँचे-से-ऊँचे पद पर पहुँचाया गया हूँ। मैं हिन्दी के प्रचार—राष्ट्र-भाषा के प्रचार—को राष्ट्रीयता का मुख्य अंग मानता हूँ। मैं चाहता हूँ कि वह भाषा ऐसी हो, जिसमें हमारे विचार आसानी से साफ-साफ स्पष्टतापूर्वक व्यक्त हो सकें। इस सम्बन्ध में हमें दो-तीन चीजों को ध्यान में रखना चाहिए—(१) राष्ट्र-भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे केवल एक जगह के ही लोग न समझें; बल्कि उसे देश के सभी प्रान्तों में सुगमता से पहुँचा सकें। जब यह सवाल उठा कि बंगाल, गुजरात, तेलगू, मद्रास आदि प्रान्तों के लोगो के 'आसानी से समझने के लिए हमारी राष्ट्र-भाषा का रूप कैसा हो, तब हम लोगों को सोचना पडा कि इन सब भाषाओं में संस्कृत का समावेश हो चुका है। ऐसे संस्कृत शब्दों को, जिनका समावेश उपर्युक्त भारतीय भाषाओं में हो चुका है, हिन्दी से निकालना हम कबूल नहीं कर सकते। उन्हें निकालकर हम हिन्दी को उन प्रान्तों के लोगों के लिए और कठिन बना देंगे। (२) साथ ही, उत्तरी भारत में बहुत-से लोग अरबी-फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं। उन लोगो के लिए हिन्दी को संस्कृत के जटिल शब्दों से कठिन और दुष्कर बनाना भी ठीक

नहीं। एक तरफ हम लोग अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के लोगों को अपनी ओर खींचना चाहते हैं और दूसरी ओर हिन्दी-भाषी प्रान्तों के सभी लोगों को एक साथ बाँधकर ले चलना चाहते हैं। (३) नाम से हमें कोई झगड़ा नहीं। हिन्दी या उर्दू या हिन्दुस्तानी किसी भी नाम का प्रयोग कोई करे, हमें आपत्ति न होगी। राष्ट्र-भाषा वही भाषा हो सकती है जिसमें जो शब्द प्रचलित हो गए है, वे रहें। भाषा ऐसी चीज़ नही जो कमेटियों में प्रस्तावों से बने। समय और स्थिति के प्रभाव से ही राष्ट्र-भाषा का निर्माण होगा। अगर मैं हिन्दुस्तानी का पक्षपाती हूँ, तो मेरी हिन्दुस्तानी का स्वरूप कठिन दुरूह उर्दू नहीं, और न कठिन संस्कृतमयी हिन्दी है।

साहित्य और राष्ट्र-भाषा में अन्तर है। हो सकता है, साहित्य की भाषा कठिन हो। वैद्यक-शास्त्र, 'सर्जरी' 'मेडिसन' आदि के ग्रन्थों की भाषा कठिन होगी ही। उनमें कुछ अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग होगा ही। पर हिन्दी के पारिभाषिक शब्द हमारी संस्कृति के मुताबिक 'संस्कृत' से ही लेने होंगे, कहीं-कहीं अंगरेजी से भी सहायता लेनी होगी।

समाचार-पत्रों तथा बोल-चाल की भाषा—समाचार-पत्रों की भाषा उच्च साहित्य की भाषा से भिन्न होगी और बोल-चाल की भाषा एक तीसरे प्रकार की होगी। बङ्गाल, गुजरात प्रभृति अहिन्दी प्रान्तों में इसी तीसरी कोटि की भाषा राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित होगी। इसे दूसरी भाषाओं से कोई झगडा नही है। तेलगू और फ्रांटियर ( सीमा-प्रान्त ) के भाई भी जिसे समझ सकें, वही भाषा राष्ट्र-भाषा है।

: २ :

# जनता की भाषा का प्रश्न

## (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन)

आज हमारे देश में हिन्दी का मान है। आवश्यकताएँ जनता के सम्पर्क मे आने के लिए जनता की भाषा के निकट आना आवश्यक कर देती हैं। इस प्रकार भाषा एक दूसरे से मिलती हुई आगे की ओर बढ़ती है। संस्कृत का पाली से मिलान है। उसका सम्बन्ध मागधी से भी है। संस्कृत पहले थी कि पाली, इस विवाद में जाने की जरूरत नहीं। पाली प्राकृत है। उसमें से अपभ्रंश निकली। उसका रूप हिन्दी से मिलता हुआ है।

इस प्रकार प्राचीन समय से भाषा का रूप बदलता आ रहा है और उसका बदला हुआ रूप हिन्दी है। हिन्दी को किसी ने अप्राकृतिक रूप से बना दिया हो ऐसी बात नहीं है। इसका स्रोत स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हिन्दी के जो विरोधी हैं वह कह देते हैं कि यह फोर्टविलियम में लल्लूलाल जी के समय की बनी भाषा है। पर यह गलत है। हाँ उर्दू का, जो हिन्दी का दूसरा स्वरूप है, जन्म १७ वीं शताब्दी में हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। पर उसका जन्म दिल्ली में नहीं, दक्षिण में हुआ। फिर वह दिल्ली में अपनाई गई। उसका असर दक्षिण पर पड़ा और उर्दू भाषा वहीं बनी।

उर्दू का विकास—उस समय मुसलमानों की वही भाषा थी जो

हिन्दुओं की। मुसलमानों ने भी इसे हिन्दी, हिन्दवी नाम दिया। अरबी फारसी से भरी हिन्दी का नाम पीछे से उर्दू दिया गया। इस प्रकार १७ वीं शताब्दी के लगभग यह दक्षिण में पनपी और दिल्ली आई फिर वहाँ से लखनऊ। तब 'नासिक' व 'मतरुक' का सिद्धान्त निकाला। उन्होंने गँवारू लफ़्ज कहकर कुछ शब्दों की फिहरिस्त बनाई और उन्हें निकालकर अरबी-फारसी का प्रवेश कराया। उन्होंने जो यह रंग दिया वह चल गया और उर्दू का विकास हुआ। 'फिसानाए आजाद' के लेखक सरूर साहब ने नासिक की तारीफ में लिखा—

बुलबुले शीराज़ को है
रश्क नासिक का सरूर।
इस्फहां उसने किये हैं
कूचहाए लखनऊ ॥

अर्थात् लखनऊ को फारस बना दिया। इस तारीफ से ही अनुमान कर सकते हैं कि नासिक साहब की रंगत क्या थी। वह १८ वीं शताब्दी के आरम्भ की बात है। फारसी चल नहीं सकती थी, इसलिए उन्होंने अरबी-फारसी-मिश्रित उर्दू को चलाया। उनके इस स्वप्न से कि इस भाषा में फारसी के शब्दों का इतना बाहुल्य कर दें कि वह फारसी के निकट आ जाय, देश का कितना लाभ हुआ यह भाषा-विज्ञान पर विचार करने वाले सोच सकते हैं। यह जड थी हिन्दू और मुसलमानों को लड़ाने की। इसने हमारी भाषा को बड़ा नुकसान पहुँचाया! भाषा समाज की सेवा के लिए है। उसका महत्त्व जनता की सेवा में है।

नासिक के समय का समाज गिरा हुआ था। वाजिदअली का दरबार सड़ा हुआ था, पतनोन्मुख था। ऐसे ही दरबार के लिए नासिक-जैसे लोग लिखा करते थे। उन्होंने ही भाषा में हिन्दू-मुसलमान का भेद उत्पन्न किया।

भाषा और धर्म—हमें देखना है कि जनता का लाभ किसमें है। हम ऐसी भाषा लेकर चलें जिससे भारतवर्ष में एकता उत्पन्न कर सकें। १७ वीं शताब्दी में हिन्दी और उर्दू में जो अन्तर आया, वह आज भी है और पहले से बढ़ा हुआ है। मुसलमान भाइयों ने उर्दू मे धर्म का प्रश्न लगा दिया है। दूर देश के प्रेम की सूरत लाकर खडी कर दी। अरब-फारसी के सम्बन्ध को भाषा में जोड दिया। ऐसा करके वे इस्लामी संस्कृति को मजबूत करते हैं, ऐसी उनकी धारणा है। इसका नतीजा यह है कि वे समझते हैं कि उर्दू सीखना चाहिए। उर्दू भाषा का धर्म से सम्बन्ध नहीं है। हाँ कुरान अरबी में है। चीन में मुसलमान हैं, पर क्या वे अरबी-मिश्रित चीनी बोलते हैं। इस्लाम का केन्द्र तुर्की है। वहाँ कमाल अतातुर्क ने जो काम किया वह जनता की दृष्टि से तुर्कों को आगे ले जाने के लिए। उन्होंने अपनी भाषा से अरबी-फारसी लफ़्ज निकाल फेंके, ऐसा उन्हें जनता के हित मे आवश्यक जान पडा। उन्होंने समझा कि अरबी भाषा और लिपि से हानि है। ईरानी भी अरबी लफ़्जों को निकाल रहे हैं। किन्तु हमारे देश की हालत दूसरी है। मुसलमान भाई यह नहीं समझते कि हिन्दी उस देश की भाषा है जहाँ वे पैदा हुए हैं। वे भाषा में इस्लाम को लाना पसन्द करते हैं। मुसलमान भाई कहते हैं कि हम लोग भी तो अपने भाषा में संस्कृत लाने का प्रयत्न करते हैं। पर वे यह नहीं अनुभव करते कि जहाँ वे रहते हैं वह वहीं की भाषा है। बंगाल और गुजरात के मुसलमान बंगाली और गुजराती बोलते हैं। उसमें संस्कृत भरी हुई है। धार्मिक प्रश्न से भाषा को अलग कर लिया जाय तो मुसलमान भी संस्कृत भरने लगें। यह समझने का प्रश्न है।

रेडियो की भाषा—आज शिक्षा में, फिल्म में, रेडियो में भाषा का प्रश्न उपस्थित है। हर जगह सवाल है कि भाषा क्या हो? हिन्दी हो, उर्दू हो या मिली-जुली। अभी हाल में आन्दोलन आरम्भ हुआ

था कि रेडियो की भाषा-नीति हिन्दी-विरोधी है। सरकार ने एक कमेटी बैठाई। उसमें साहित्य-सम्मेलन और अंजुमने-तरक्की ए उर्दू के प्रतिनिधि बुलाये और उसके साथ रेडियो-कमेटी बैठी। उसने प्रश्न भेजा और साथ में तीन शब्द लिख भेजे। अंगरेजी के 'इकनामिक' शब्द के लिए रेडियो की भाषा में क्या रखा जाय 'इक्तसादी' या 'आर्थिक' ? यदि किसी का स्वागत करना है तो उनके लिए 'स्वागत' कहें या 'इस्तकबाल'? इस सवाल का हल कैसे हो ? कोई सिद्धान्त होना चाहिए। कठहुज्जती की बात छोड़ें। अरबी-फारसी रखना चाहते हों तो रखें, बात भिन्न है। पर संस्कृत और प्राकृत से भागकर जायंगे कहाँ ? यह तो हमारी नसों में घुसी है। यह भाषा की जड है। संस्कृत छोडो, फारसी छोडो, यह कठहुज्जती है। शब्दों के प्रयोग में यह ध्यान रखना पडेगा कि अधिक-से-अधिक लोग उसे किस रूप में समझ सकेंगे हमें उन्हीं धातुओं और शब्दों को लेना होगा। 'स्वागत' और 'इस्तकबाल' नहीं। मराठी, बङ्गाली, उड़िया और गुजराती बोलने वाले भी उसे ही समझ सकेंगे। निश्चय है कि प्राकृत से से बनी संस्कृत के समीप जो शब्द होगा वही अधिकाधिक समझा जा सकेगा।

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप—एक बार मुझे महाराष्ट्र जाने का अवसर मिला। पूना में राष्ट्र-भाषा-प्रचार परीक्षा में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को प्रमाण-पत्र देने के लिए सभा हुई। प्रमाण-पत्र मेरे हाथ से बँटवाया गया। प्रमाण-पत्र लेने वालों मे बडी उम्र की लड़कियाँ, माताएँ, बी० ए०, एम० ए० उत्तीर्ण लोग प्रमाण-पत्र लेने आये। उस सभा के सभापति ग० र० वैशम्पायन जी थे। मै उस सभा मे जब बोल चुका तो मेरी भाषा की टीका करते हुए वैशम्पायनजी ने कहा—"आपने टंडनजी का भाषण सुना है। इससे पहले आपने जब दो बड़े नेताओं के भाषण सुने थे तब प्रश्न किया था कि क्या यही राष्ट्र-भाषा का स्वरूप है ? यदि उसका यही स्वरूप है तो बाज आये ऐसी राष्ट्र-भाषा से। इससे

तो मराठी ही भली। उनके भाषण में अरबी-फारसी मिश्रित थी। पर वह राष्ट्र-भाषा का स्वरूप नहीं था। उसका स्वरूप यह है जो आपने टंडनजी से सुना है। आप सब इसे समझ सके या नहीं ?" सबने कहा–'हाँ'। यदि आप 'स्वागत' लेकर जायं तो उडिया, बंगाली महाराष्ट्री सभी आपका स्वागत करेंगे। 'इस्तकबाल' लेकर जायंगे तो आपका कोई 'इस्तकबाल' न करेगा। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि जो अरबी-फारसी के शब्द प्रचलित हैं उन्हें निकाल फेंकिए। मैं अपने वकील भाइयों से कहूँगा कि यदि ये 'मुद्दई' और 'मुद्दाअलेह' लिखना चाहते हैं तो लिखें पर 'जेवरात तिलई व नकरई' जैसी भाषा की जरूरत नहीं है। सरल भाषा लिखें। हम समाज के टुकडे हैं। भाषा इसलिए सीखते हैं कि सबके पास जायं। 'इक्तसादी' और 'आर्थिक' दोनों अप्रचलित शब्द है पर 'आर्थिक' के समझने वाले 'इक्तसादी' समझने वालों से लाखों ज्यादा हैं। प्रश्न यह है कि नया शब्द बनाना हो तो कहाँ जायं ? यदि ठेठ शब्द से काम नहीं चलता तो प्राकृत और संस्कृत के पास जायं पर अरबी की शरण नहीं ली जा सकती।

हमें शब्दों का ऐसा मेल करना चाहिए जो भाषा को सूरत दे। मुसलमानों को भी भाषा को सूरत देने का प्रयत्न करना चाहिए। आज तो भाषा में भी पाकिस्तान है। हिन्दी-उर्दू की माँग में पाकिस्तान की माँग छिपी थी, जो पूरी होकर रही आज का हिन्दी-उर्दू का प्रश्न राजनीति के प्रश्न का एक टुकडा है।

भाषा का विकेन्द्रीकरण—हिन्दी राष्ट्रीयता की प्रतीक है। विकेन्द्रीकरण के समर्थकों को दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए। हिन्दी-उर्दू के झगड़े से हमें सबक लेना चाहिए। ऐसे प्रश्न में समझ-बूझकर ही भाग लेना चाहिए। हिन्दी प्रान्तों में एकता लाने वाली है। हिन्दी के टुकडे करना राष्ट्रीयता के टुकडे करना है। यदि हम भोजपुरी, राजस्थानी, अवधी आदि सब भाषाओं को शिक्षा

का माध्यम बनायं तो हिन्दी कहाँ रहेगी और राष्ट्रीय एकता कहाँ रहेगी। अलग-अलग जनपद की भाषा के अन्तर को लेकर, उसे अपनाकर हम हिन्दी का अहित करेंगे। हिन्दी सैकड़ों वर्षों के भाषा के विकास के परिणाम स्वरूप बनी है। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी आदि सब हिन्दी के स्तम्भ हैं। ये सब-हमारी थाती है। 'सूर-सागर', 'रामायण' और जायसी के ग्रन्थ स्तुत्य हैं।

हमसे यह कहा जाता है कि मातृ-भाषा में बोलना-लिखना सीखने में सुगमता होती है। पर यहाँ के बालकों को मैं तो नहीं समझता कि 'जाता है, खाता है, सीखने में कोई कठिनाई पड़ती है। यह तो मातृ-भाषा के हीसमान है। हमारे पूर्वजों ने जैसी भूल की वैसी ही भूल यदि हम करें और भिन्न-भिन्न बोलियों को शिक्षा का माध्यम बनायं तो हमारी भूल का परिणाम हमारी भावी सन्तान को भुगतना पड़ेगा और एकता का सूत्र बिखर जायगा।

लिपि का प्रश्न—अब लिपि का प्रश्न लीजिए। लिपि यही रहे या भिन्न हो। मेरी दृष्टि में 'लिपि ऐसी होनी चाहिए जिसे राष्ट्र-भाषा स्वीकार करे। स्वरों को देखिए। 'अ' और 'इ' को लीजिए—यदि 'अ' में 'इ' की मात्रा लगाकर 'अि' कर दें तो सुगमता हो जाय। 'अ' में 'ओ' की मात्रा लगाकर हम 'ओ' बनाते ही हैं। फिर इसमें क्या आपत्ति है। पर नहीं हम रूढ़िवादी हैं। अगर हम पुरानी बात से खिसकने को कहते हैं तो लोग चौंकते हैं। संसार उन लोगों का है जो समय के भेद से समय का भेदन करते हैं। हमारी लिपि सबसे अधिक वैज्ञानिक है। शार्टहैंड के आविष्कारक सर आईजक पिटमैन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नौकर होकर यहाँ आये। उन्होंने हिन्दी का वर्गीकरण देखा। हमारा वर्गीकरण ध्वनि पर है। इसे देखकर उन्होंने कहा कि ये विश्व के पूर्णतम अक्षर हैं। सैयद अली बिलग्रामी ने अपने जाति-बन्धुओं से कहा था कि समय बचाना चाहते हो तो अपने बच्चों को नागरी सिखाओ। बी० कृष्ण स्वामी अय्यर ने

भी कहा था कि 'मैं तामिल, तेलगू वालों से अपील करता हूँ कि वे अपनी लिपि छोड़कर नागरी लिपि अपनायं।" शारदाचरण मित्र ने भी ऐसी ही सलाह दी थी। पर हम रूढ़िवादी हैं। जहाँ रूढ़ि है वहीं नाश है। ए, ई, उ को हटाइये कितना हल्का काम हो जायगा। व्यंजन के द्वितीय और चतुर्वर्ण में 'ह' सम्मिलित है। यदि उसके लिए केवल एक-एक चिह्न बना लें तो क्या हानि हो जायगी। इससे तो दस अक्षरों को बचत हो जायगी। लिपि का स्वरूप बदलता रहना चाहिए।

लिङ्ग-भेद का झगड़ा—शब्दों के लिङ्ग-भेद का भी एक प्रश्न हैं। बिहारी और बंगाली भाइयों के सामने यह समस्या विशेष रूप से आती है। राजेन्द्र बाबू ने एक बार कह दिया था 'बाढ़ आया, लाइन टूट गया।' उसमें क्या अशुद्ध है? क्या लिंग का झगड़ा मिटाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मुझे कुछ नियम सूझे हैं। हमारे यहाँ लिंग-भेद की भूल उच्चारण के कारण होती है। हम अकारांत को प्राय पुल्लिंग और इकारांत को स्त्रीलिंग बोलते हैं। जहाँ अर्थ स्पष्ट है वहाँ अन्यत्र यह अपनाने में हानि क्या है? यह प्रश्न आप पर छोड़ता हूँ। आप विचार करें।

संस्कृत समय के अनुपयुक्त—एक बात संस्कृतवादियों से भी कहना चाहता हूँ। संस्कृत आदि और पूज्य भाषा है। किन्तु हम संस्कृत का बहुलता से प्रयोग करें यह ठीक न होगा। शिक्षा के मार्ग में बाधा पड़ेगी। काशी के पंडितगण तो अपनी शिक्षा में हिन्दी का प्रयोग होने देना ही नहीं चाहते। पर हिन्दी ही राष्ट्रीयता का स्थान ले सकती है। भावना और ज्ञान जगाने वाली हिन्दी ही हो सकती है, संस्कृत नहीं। संस्कृत को पढ़े-लिखे लोग भी देश के कामों में स्थान नहीं दे सकते। धर्म के काम में भी हिन्दी को ही स्थान दिया जाना चाहिए। धार्मिक संस्कार का सम्बन्ध भावना से है। भावना का स्पर्श जनता की भाषा से ही हो सकता है। इसी भावना से भगवान्

बुद्ध ने, लूथर ने जनता की भाषा को अपनाया था। धर्म दिखाने या पैसे से खरीदने की चीज़ नहीं है। आप सप्तशती संस्कृत में पढ़िये ठीक है, किन्तु वह दूसरे से पढ़वाने की चीज़ नहीं। यदि आप यह चाहते हों कि पैसे खर्च कर दूसरे से पाठ, यज्ञ आदि कराकर ईश्वर के यहाँ पुण्य इन्दराज कर दिया जाय तो यह गहरी भूल है। अन्य धर्मों के समक्ष यह हिन्दू धर्म के नाश का चिह्न हैं। यह अधार्मिक प्रवृत्ति हमारी गुलामी की जड़ है। धर्म दिखाने की चीज़ नहीं। उसका सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क से है। ज्ञान और भावना जगाने के लिए धार्मिक कृत्य भाषा में किया जाना चाहिए। विवाह पवित्र संस्कार है। एक प्रतिशत पिता को और दशमलव पाँच आचार्य के कहने के लिए है। पर आज उसका अशुद्ध नाटक कर इस पवित्र संस्कार की खिल्ली उड़ाई जाती है। इस बात पर शुद्ध हृदय से विचार करें। धार्मिकता और राष्ट्रीयता के उत्थान की प्रतीक हिन्दी है। यदि राष्ट्रीयता सुरक्षित है तो धर्म भी सुरक्षित है।

जो काम देववाणी संस्कृत से प्राचीन समय में हुआ था वही काम आज हिन्दी कर सकती है। कुछ लोगों ने सपना देखा है कि अंग्रेज़ी से देश का काम चलाया जाय। पर यह असम्भव बात है। कॉंग्रेस में भी पहले अंग्रेज़ी का बोल-बाला था। कॉंग्रेस में हिन्दी उर्दू में काम करने के लिए मैंने ही प्रस्ताव रखा था और उस प्रस्ताव ने हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग मैंने उसी अर्थ में किया था जैसा कि इलाहाबाद की एकेडेमी ने किया है अर्थात् हिन्दी अथवा उर्दू। उद्देश्य यह कि अंग्रेज़ी के स्थान पर कॉंग्रेस में लोग हिन्दी या उर्दू का प्रयोग करें। कॉंग्रेस ने यह कभी निर्णय नहीं किया कि हिन्दुस्तानी नाम की कोई नई भाषा बनाई जाय। जो ऐसा कहते हैं वे अशुद्ध कहते हैं। कॉंग्रेस-प्रस्ताव की भाषा में हिन्दुस्तानी शब्द हिन्दी और उर्दू दोनो को समाविष्ट करता है, इन दोनों से विलक्षण किसी दूसरी शैली का नाम नहीं है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि उर्दू जल्दी आ जाती है—पर उनके इस कथन में तनिक भी सचाई नहीं है। उर्दू कठिन भाषा है। मैं हिन्दी उर्दू के मेल का पोषक हूँ और मेल प्रेम से होता है। किन्तु दूसरों को प्रसन्न करने के लिए हम अपनी भाषा में परिवर्तन कैसे कर सकते हैं। एक चाहता है कि मेल हो और दूसरा उस तरफ ध्यान नहीं देता तो फिर मेल कैसे सम्भव है। हम आज अपनी भाषा में कितने भी उर्दू के शब्द क्यों न मिलायें—उर्दू वाले इस ओर झाँकने को तैयार नहीं। वर्धा में बैठकर भाषा गढ़ना यह ठीक नहीं। यह दलील कि अगर तुम मेल के पक्षपाती हो तो ऐसी भाषा लिखो जिससे मेल हो, चाहे दूसरा पक्ष ऐसी भाषा न लिखे। देखने में सुन्दर है किन्तु वास्तविकता का ध्यान नहीं। हिन्दी और उर्दू के मेल से तीसरी चीज़ हिन्दुस्तानी के दर्शन की तुलना गंगा और यमुना के मेल से त्रिवेणी की की गई है। अगर गंगा और यमुना दोनों चाहें तो तभी संगम सम्भव है, अन्यथा नहीं। अगर गंगा मेल करने को बढ़े और यमुना परे हटती जाय तो फिर भला त्रिवेणी के दर्शन कैसे हो सकते हैं। आज जो देश का वातावरण है वह समय के अनुकूल नहीं है। हिन्दी उर्दू के पण्डित यदि बैठें और सद्भावना से शुद्ध सिद्धांतों के अनुसार काम करें तो मेल हो। पर ऐसा अभी होता दिखाई नहीं देता।

पिछले वर्ष से एक दलील यह सुनाई देने लगी है कि सिर्फ हिन्दी जानने वाला अर्ध राष्ट्रीय और सिर्फ उर्दू जानने वाला अर्ध राष्ट्रीय; और जो दोनों जाने वह पूर्ण राष्ट्रीय है, महात्मा जी तो उर्दू नहीं जानते थे तो फिर क्या वे अर्ध राष्ट्रीय थे; किन्तु ऐसा कहना शुद्ध नहीं। वे राष्ट्रीयता के स्रोत थे।

मौलाना अब्बुल कलाम आज़ाद सिर्फ उर्दू जानते हैं तो फिर क्या वे भी अर्धराष्ट्रीय हैं—नहीं वे तो सच्चे राष्ट्रीय पुरुष हैं। बंगाल में कई प्रसिद्ध नेता उर्दू नहीं जानते तो क्या वे सब अर्ध राष्ट्रीय हैं।

क्या हम स्वर्गीय तिलक और स्वर्गीय सी० आर० दास को अराष्ट्रीय कह सकते हैं ? इस दलील में सार नहीं है।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने ही अँग्रेज़ी को हटाने का काम किया है। इस दिशा में काँग्रेस ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। भाषा और लिपि एक बहुत बड़ा साधन है जिससे हम सब प्रान्तों को एक दूसरे से मिला सकते हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि राष्ट्र-भाषा और देवनागरी लिपि सीखो—इसी में कल्याण है। यह मेरा सपना है कि हम अपनी हिन्दी भाषा द्वारा प्रान्तीय भाषाओं के झगड़े मिटा सकते हैं।

उर्दू की लिपि अपूर्ण है। यह इसकी कठिनता और कमजोरी है। मैं जब यह सुनता हूँ कि उर्दू सात दिन मे सीखी जा सकती है तो मुझे बडा अचम्भा होता है—ऐसी बातें वे ही कहते हैं जो उर्दू नहीं जानते। नागरी लिपि तो हम तीन महीने में सिखा सकते हैं किन्तु उर्दू सीखने में दो साल लग जायेंगे। सिर्फ अलिफ, बे, पे पहचान लेने से ही उर्दू नहीं आ जाती।

मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से यदि हिन्दी में कोई परिवर्तन करना पड़ा तो हम करेंगे, परन्तु साथ ही उर्दू मे भी बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा। मै आपसे यही अनुरोध करता हूँ कि आप राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अपनायें क्योंकि नागरी लिपि पूर्ण वैज्ञानिक है और सारे देश के लिए नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा सबसे सुलभ है।

: ३ :

# सार्वदेशिक भाषा

( श्री सम्पूर्णानन्द )

हिन्दी के साहित्य-गगन के नक्षत्र विश्व-साहित्य के ज्योतिष्पुन्जों मे परिगणित होते हैं। संस्कृत को छोड़कर आज भी किसी भी भारतीय भाषा का वाङ्मय विस्तार या मौलिकता में हिन्दी के आगे नहीं जा सका। इसका एक-मात्र कारण यह है कि शासक के नाते जो हो, और उसकी नीति चाहे जैसी हो; हिन्दी भारतीय जनता के एक बहुत बड़े भाग की अपनी भाषा है। हिन्दी-लेखकों की प्रतिभा को भारतीय संस्कृति की आत्मा निरन्तर स्फूर्ति देती रही है, उसकी कृतियों में करोड़ों भारतीयों की आशाओं, आकांक्षाओं, इच्छा-विधानों की अभिव्यक्ति मिलती है। मैं इस बात को नहीं समझ पाता कि कोई भी व्यक्ति, जिसको भारतीय संस्कृति से प्रेम होगा, इस भाषा को अंगीकार न करेगा। बंगला, गुजराती, पश्तो या तामिल भी अंशतः भारतीयता को अभिव्यंजित करती हैं, परन्तु ऐतिहासिक कारणों ने हिन्दी को ही भारत की सार्वदेशिक भाषा होने का गौरव प्रदान किया है। पटना से लेकर दिल्ली तक, हरिद्वार से लेकर उज्जयिनी तक के प्रदेशों में, रामायण काल से लेकर मुगल साम्राज्य के सूर्यास्त तक भारतीय संस्कृति का विकास हुआ। यहीं बड़े-बड़े चक्रवर्ती राज्यों और साम्राज्यों का उदय हुआ। देश के कोने-कोने से खिंचकर प्रतिभाशाली व्यक्ति यहाँ

आये। यहाँ से विद्वान् और शासक सारे देश में फैले। इसीलिए यहाँ की भाषा स्वतः राष्ट्र-भाषा बन गई।

हम इस भाषा के पुजारी हैं। यों तो स्वतन्त्र भारत की विधान-परिषद् को पूरा अधिकार होगा कि वह चाहे जिस भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाय, परन्तु हमको पूर्ण आशा है कि यह स्थान भारत की इसी भाषा को प्राप्त होगा। हम इसके लिए वर्षों से प्रयत्न भी कर रहे हैं।"

अब प्रश्न भाषा के स्वरूप का है। नाम तो गौण है। जो लोग हिन्दुस्तानी नाम को चलाना चाहते हैं उनमें कुछ ने आज तक अपनी नीति स्पष्ट नही की। उनका कहना है कि हमको सरल;सुबोध भाषा का प्रयोग करना चाहिए। यह बात बिलकुल ठीक है। जहाँ 'खाना खाया' से काम चलता हो वहाँ 'भोजन ग्रहण किया' या 'तनावल या हजर फर्माया' कहना मूर्खता का प्रमाण देता है। परन्तु हमे ऐसे अर्थों के लिए भी शब्द चाहिएं जिनका साधारण जनता के जीवन या बोल-चाल में स्थान नहीं है। 'इन्टरनेशनल' 'फाइनेन्शल' 'कल्चर' 'स्ट्रेटेजी' के लिए क्या बोलें ? जब इस सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त निश्चित न हो जाय तब तक हिन्दुस्तानी का कोष किस आधार पर बने ?

उर्दू के कवि ने कमल और भ्रमर को छोड़कर ईरान के गुलाब और बुलबुल को अपनाया, जिसको न उसने देखा और न उसके श्रोताओ ने। जिस भारत में मांस खाना कुछ बहुत अच्छी बात नहीं समझी जाती, जो भारत अपने पूर्वजो के पवित्र सोम-रस का पान छोड़ चुका था और सुरा-पान को निन्द्य मानता था, उसके सामने उन्होंने कबाब, शराब और साक़ी का राग अलापा।

अब स्वतन्त्र भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों को रहना है। भले ही उपासना करते समय एक का मुख पूर्व और दूसरे का मुख पश्चिम की तरफ हो। एक वेद-मंत्र पढ़े तो दूसरा कुरान की आयत; परन्तु दैनिक जीवन में एक का दूसरे से बराबर काम पड़ता है। संगीत, नृत्य-कला, चित्र-कला, स्थापत्य के क्षेत्र में दोनों एक जगह मिलते हैं,

एक ही प्राकृतिक वातावरण में पलते हैं। ऐसी दशा में वह किस प्रकार की भाषा होगी जो सबके सुख-दुःख, सबकी लालसाओं और अरमानों को व्यक्त कर सके, जिसके द्वारा शासक, शिक्षक, लेखक, प्रचारक, और कलाकार सबके पास पहुँच सकें, यह सबके सोचने की बात है। आग्रह से समस्याएँ सुलझा नहीं करतीं।"

प्रत्यक्ष रूप से उर्दू या अप्रत्यक्ष रूप से कृत्रिम असार्वजनीन हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी का विरोध करने वाले तर्क से बहुत दूर हैं। हैदराबाद की भाषा उर्दू इसलिए है कि वहाँ का राजवंश मुस्लिम है, और काश्मीर की भाषा इसलिए उर्दू है कि वहाँ की प्रजा में अधिक संख्या मुसलमानों की है। पंजाब में उर्दू इसलिए पढ़ाई जाती थी कि वहाँ पहले ५५ प्रतिशत मुसलमान थे और बिहार में इसलिए पढ़ाई जानी चाहिए कि अब वहाँ १२ प्रतिशत भी मुसलमान नहीं हैं। यह भाषा नहीं, साम्प्रदायिकता का प्रश्न है।

हम सबकी इस बात का कठिन अनुभव है कि हमारे किसी भाषण में जहाँ कोई संस्कृत का तत्सम शब्द आया नहीं कि उर्दू के हामी बोल उठते हैं, 'साहब, आसान हिन्दुस्तानी बोलिये, हम इस ज़ुबान को नहीं समझते।' परन्तु हिन्दी-प्रेमी क्लिष्ट, अरबी-फारसी शब्दों की बौछार को प्रायः चुपचाप सह लेते हैं। हिन्दुस्तानी नामधारी उर्दू के समर्थकों का द्वेष-भाव कहाँ तक जा सकता है, उसका एक उदाहरण देता हूँ।

अभी थोड़े दिन हुए, भूतपूर्व राष्ट्रपति मौ० अबुलकलाम आज़ाद को प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रों की ओर से एक मान-पत्र दिया गया। उस पर उर्दू-समर्थकों के मुख-पत्र 'हमारी ज़ुबान' ने एक लंबी व्यंग्यमयी टिप्पणी लिखी। उसने उन शब्दों को रेखांकित किया, जो उसकी सम्मति में हिन्दुस्तानी में न आने चाहिएं। यह कहना अनावश्यक है कि वे शब्द संस्कृत से आये हुए थे। यह बात तो कुछ समझ में आती है। यह भी कुछ-कुछ समझ में आता है कि इन लोगों

की दृष्टि में अरबी और फारसी से निकले हुए दुरूह शब्द सरल और सुबोध हैं। पर विचित्र बात यह है कि 'मानपत्र' की अंगरेजी का कोई शब्द भी रेखांकित नहीं है। यह द्वेष-भाव की मर्यादा है। जिस 'हिन्दुस्तानी' में अंगरेजी को स्थान हो, परन्तु संस्कृत के शब्द छाँट-छाँट कर निकाल दिये जाते हों, वह देश की राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती।

मैं आशा करता हूँ कि अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इस दिशा में हमारे मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं, उन्हे दूर करने में समर्थ होगा। यों तो इस प्रश्न का सम्बन्ध राजनीति से है और इसके सुलझाने में राजनैतिक नेताओं को हाथ बटाना ही होगा। हिन्दी-उर्दू के वाद-विवाद का प्रधान केन्द्र हमारा ही प्रांत संयुक्त प्रांत है। यदि हम लोग किसी प्रकार अपने प्रांत में सुलझाव कर सकें, किसी प्रकार मुसलमानों को यह समझा सकें कि भाषा का प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं है, किसी प्रकार उर्दू के प्रेमियों को यह विश्वास दिला सकें कि हमको उर्दू से शत्रुता नहीं, प्रत्युत हम यह चाहते हैं कि ग्रन्थकार जो पुस्तक लिखें उनसे अधिक-से-अधिक पढ़ने वाले लाभ उठा सकें, हमारे देश की प्रतिभा देश के कोने-कोने को प्रभावित कर सके, तो समझता हूँ कि बहुत बड़ा काम होगा।

: ४ :

# हिन्दुस्तानी का रहस्य

( डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या )

विदेशी लोग इस बात पर हसेंगे कि भारतीयों ने अंग्रेजी राज्य का तो वहिष्कार कर दिया, पर वे अंग्रेजी भाषा से चिपके हुए हैं। हमें अपने देश की मर्यादा और गौरव के लिए अपनी भारतीय भाषा को ही राष्ट्र-भाषा बनाना चाहिए। हमें विदेशियों के साथ पत्र-व्यवहार भी अपनी ही भाषा में करना चाहिए। सुविधा के लिए हम उसका अनुवाद उनकी भाषा में कराकर भेज सकते हैं। ऐसा करने से हमारी भाषा की महिमा संसार में फैलेगी।

हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा—यह बहुत सुन्दर होता कि हम संस्कृत भाषा को सरल बनाते और उस सरल संस्कृत को ही राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रचलित करते, लेकिन यह सम्भव नहीं है। अस्तु, अब सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही है कि संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा और देवनागरी लिपि को ही राष्ट्र-लिपि बनाया जाय। हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में आवश्यकतानुसार अरबी और फारसी के उपयुक्त शब्द भी लिये जा सकते हैं।

उर्दू बाजारू भाषा है—जहाँ तक उर्दू का प्रश्न है, यह बाजारू और बनावटी भाषा है और यह दुःखजनक घटना है कि हमारे देश के कुछ लोग केवल १२ प्रतिशत बोलने वालों की भाषा ८८ प्रतिशत लोगों पर लादना चाहते हैं।

इस आन्दोलन का वास्तविक रहस्य आपको निम्न पंक्तियों से मालूम होगा। हिन्दी को कुचलने के लिए क्या-क्या षड्यन्त्र हुए, इससे भी आप भली प्रकार अवगत हो जायंगे।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों की तुर्क-विजयों के पश्चात् उत्तरी भारत ( पूर्वी पंजाब से लेकर बङ्गाल तक ) की प्रचलित भाषा के नामों में से हिन्दी सबसे प्राचीन और सरल नाम है, और मैं इसका प्रयोग इसी पुराने अर्थ और ध्वनि में करता हूँ और जनता में भी अभी तक इस नाम से यही भाव ग्रहण किया जाता है। 'हिन्दुस्तानी' बहुत बाद की और अधिक बोझीली उपज है—शुद्ध फारसी शब्द के नाते अब यह शब्द मुसलमानी हिन्दी अर्थात् उर्दू, जिसमें फारसी और अरबी शब्दों की भरमार रहती है और देशज हिन्दी तथा संस्कृत शब्द यथाशक्ति न्यून और बहिष्कृत रहते हैं, का पर्याय हो गया है। भारतीय भाषाओं के कुछ विद्यार्थियों और कॉंग्रेस तथा अन्य संस्थाओं के राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की ओर से इस फारसी शब्द 'हिन्दुस्तानी' को अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करने का और उसे साहित्यिक हिन्दी (नागरी हिन्दी) और उर्दू दोनों की आधारभूत बोली के अर्थ में प्रयुक्त करने का प्रयत्न हुआ है, परन्तु इन कोशिशों के बावजूद लगभग सब अंग्रेज और अन्य विदेशी लोग ❀ अब भी 'हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' दोनों शब्दों को हिन्दी भाषा की एक ही शैली अर्थात् उस शैली का बोधक समझते हैं जो फारसी लिपि में लिखी जाय और जिसमें अरबी-फारसी शब्दावली प्रयुक्त की जाय।

अब कॉंग्रेस हिन्दुस्तानी के ठेठ आधार अर्थात् खड़ी बोली, जिस पर साहित्यिक हिन्दी और उर्दू दोनों की नींव रखी हुई है, के

❀ उदाहरण के लिए बी० बी० सी०, मास्को रेडियो, अंकारा रेडियो और अन्य विदेशी रेडियो-स्टेशनों की 'हिन्दुस्तानी' ही सुन लीजिए, जो शुद्ध उर्दू है—आल इंडिया रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' नामधारी अपेक्षाकृत पतली चाशनीवाली उर्दू भी नहीं।

आधार पर एक नई भाषा या साहित्यिक शैली गढ़ने का विचार इस कथित इरादे के साथ कर रही है कि विदेशी अरबी-फारसी शब्दों, जिन पर मुसलमान नेता जोर देते हैं और देशज हिन्दी और संस्कृत शब्दों, जिन पर हिन्दुस्तानी-भाषी-क्षेत्र के तथा शेष भारत के हिन्दू जोर देते हैं, के बीच मे एक उचित और न्याय-सन्तुलन रखा जाय। परन्तु व्यवहार में यह फारसी-निष्ठ हिन्दुस्तानी बन रही है जिसे गुजराती, बङ्गाली, महाराष्ट्री, उड़िया और दक्षिण के लोग नहीं समझ पाते (परन्तु फिर भी उनसे हिन्दुस्तानी के इस रूप को राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने के लिए कहा जाता है) * और जिसमें बिहार और संयुक्त-प्रान्त, राजपूताना, मध्य-भारत और मध्य-प्रांत की जनता, जो संस्कृत शब्दावली की अभ्यस्त है, आराम और सुविधा का अनुभव नहीं करती। यह भाषा शायद केवल संयुक्त प्रान्त, बिहार, हिन्दी भाषी मध्य-प्रांत और पञ्जाब के सुशिक्षित मुसलमानों को और पश्चिमी संयुक्त-प्रान्त तथा पञ्जाब के पढ़े-लिखे सिखों और हिन्दुओं की एक विशिष्ट संख्या को सुविधाजनक जान पडे।

यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि पूर्वी संयुक्त-प्रान्त, बिहार, नैपाल, बंगाल, आसाम, उडीसा, आन्ध्र, तामिलनाद, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के लोग हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रति जो आकर्षण अनुभव करते हैं वह मूलतः दो बातों पर निर्भर है—उसकी देवनागरी लिपि और उसकी संस्कृत-निष्ठ

---

* अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के गुजराती, महाराष्ट्री, बङ्गाली, असमी, उड़िया और दक्षिण भारतीय सदस्य प्रायः यह शिकायत करते सुने जाते हैं कि हम पं० बालकृष्ण शर्मा और श्री टण्डन जी के हिन्दी-भाषण तो कभी अच्छी तरह समझ लेते हैं, परन्तु पं० नेहरू, मौलाना आज़ाद और आचार्य कृपलानी की 'हिन्दुस्तानी' ठीक-ठीक हमारी समझ में नहीं आती।

शब्दावली। हमें इस बड़ी सचाई को कभी नहीं भूलना चाहिए और न यह कभी भुलाई जा सकती है। +

समग्र भू-मण्डल की तीसरी भाषा; चालीस करोड़ मानवों की— विश्व की मानव-सन्तान के पंचमांश की— होनहार राष्ट्र-भाषा; ऋषि-प्रोक्त और निषाद-द्रविड-किरात आर्यों की मिलित चेष्टा के फल स्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृति-वाहिनी संस्कृत भाषा से संग्रथित आधुनिक भारत की प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा; जिसके गले में अरब और ईरान के शब्द-भण्डारों से लिये हुए मणि-हार हमने लटकाये हैं, और जिसकी शक्ति तथा सौन्दर्य को हमने बढाया है; ऐसी भाषा पर हम क्यों न गर्व करें, और इस अनमोल देन के लिए क्यों न हम ईश्वर की स्तुति करें। हिन्दी भाषा जोरदार भाषा है, यह सचमुच मर्दानी जबान या पुरुष की बोली है। हिन्दी की अभिव्यञ्जना-शक्ति अपूर्व है।

---

+ कम-से-कम 'हिन्दुस्तानी' की रट अब क्यों; जब कि भारत के वही भाग कांग्रेस की मुट्ठी में से निकल गए जिनसे अपनी 'राष्ट्र-भाषा' मनवाने के लिए घूस देने के विचार से कांग्रेस, विशेष रूप से कांग्रेस के हिन्दू नेता, इतने वर्षों से वास्तविक राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सुन्नत करके 'हिन्दुस्तानी' बनाने में लगे हुए थे?

अब तक कहा जाता था कि देश में उर्दू भाषी प्रदेश भी हैं, राष्ट्र-भाषा 'हिन्दुस्तानी' ऐसी हो जिसे फ्रांटियर के लोग भी समझ सकें; अब शायद यह कहा जाय कि खुद की अपेक्षा एक पड़ौसी राष्ट्र को अपनी राष्ट्र-भाषा समझाना ज्यादा जरूरी है।

: ५ :

# राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा

( श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी )

हिन्द की स्वतन्त्रता से राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा के प्रश्न को बहुत महत्त्व प्राप्त हो गया है। परन्तु इस प्रश्न का विचार बहुधा पूर्व कल्पनाओं और भावनाओं के आधार पर ही हुआ करता है। इस देश में इस पर विचार प्रकट करने वालों की दो श्रेणियाँ हैं। एक में वे हैं जो समझते हैं कि अंग्रेज़ी राष्ट्र-भाषा का काम पीढ़ियों से करती आती है, इसलिए हमें इसी को राष्ट्र-भाषा मान लेना चाहिए। दूसरी में वे हैं जो परदेशी भाषा को राष्ट्र-भाषा मानने में अपना अपमान समझते हैं। वे किसी देशी भाषा को ही यह पद देना चाहते हैं।

पहली श्रेणी में अंग्रेज़ी के विद्वान् और उन्हीं के कुछ अनुयायी हैं, जो अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। दूसरी में भी दो भेद हैं। एक में हिन्दी को राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा के रूप में देखने वाले हैं और दूसरी में उर्दू को। प्राय ३० करोड़ हिन्द वासियों में उर्दू वालों की संख्या ५ करोड़ से अधिक नहीं है! इनमें हमने उन हिन्दुओं को भी मिला लिया है जो उर्दू के लेखक और हिमायती हैं। वैसे तो मुसलमानों की संख्या ४॥ करोड़ ही है और वे सभी उर्दू नहीं जानते। इसलिए उर्दू को राष्ट्र-भाषा बनाने से वह आपको २५ करोड़ हिन्दुओं तथा दूसरे लोगों पर लादनी पड़ेगी, जो अव्यावहारिक है।

इसके सिवा उर्दू लिपि देश की लिपि नहीं है और उर्दू भाषा अरबी फारसी के ज्ञान के बिना व्यवहार मे नहीं लाई जा सकती।

अब रह गई हिन्दी और उसकी बहने। भारतीय भाषाओं में बंगला सबसे उठती मानी जाती है और जब राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उठता है तब हमारे बंगाली भाई बंगला की वकालत बडे उत्साह और उमंग के साथ करते हैं। अन्य आर्य भाषाओं के बोलने वाले पंजाबी, मराठी, गुजराती, उड़िया और आसामिया वाले हिन्दी का ही समर्थन करते है। इसलिए हमें बंगला के दावे पर विचार करके ही आगे बढना चाहिए। सारे बंगाल में बंगला बोलने वाले ५ करोड़ हैं और विभक्त बंगाल में कोई २॥ करोड। अब हम यदि बंगला को राष्ट्र-भाषा बनाते हैं तो उर्दू की भाँति ही उसे २५ करोड़ पर लादते हैं। भाषा के मूलाधार क्रिया, विभक्ति, प्रत्यय, सर्वनाम और अव्यय बहुधा उर्दू हिन्दी के एक हैं। पर भाषा की शब्दावली से बंगला अन्य आर्य भाषाओं के समकक्ष ही रहती है। इसलिए बंगला २५ करोड अन्य भाषियों पर नहीं लादी जा/सकती। इसके सिवा अपने शब्दों के उच्चारण के वैचित्र्य के कारण यह अखिल हिन्द की भाषा नहीं बन सकती।

पहले जन-गणना में हिन्दी चार भागों में विभक्त की जाती थी—(१) पश्चिमी हिन्दी, (२) पूर्वी हिन्दी, (३) बिहारी और (४) राजस्थानी; पर आजकल वार्षिकियों—ईयर बुकों में विलक्षण ढंग देखा जाता है। पश्चिमी हिन्दी तो है, पर पूर्वी हिन्दी नहीं है। इसी प्रकार बिहारी है, पर राजस्थानी नही। पश्चिमी हिन्दी बोलने वालों की संख्या ७ करोड बताई गई है। परन्तु यदि अन्य तीनों की संख्या का हिसाब लगाया जाय और हिन्दी के प्रसार पर ध्यान दिया जाय तो पता लगेगा कि उत्तर में कुमायूँ से लेकर दक्षिण में हैदराबाद तक हिन्दी का क्षेत्र है और राजस्थान से लेकर बिहार की सीमा तक उसका विस्तार है। ऐसी अवस्था में हिन्दी-भाषियों—हिन्दी को अपनी

भाषा मानने वालों की संख्या १५ करोड से कम नहीं है। इस प्रकार हिन्दी आधे हिन्द की ाषा है और इसलिए इसका-सा प्रसार, विस्तार किसी अन्य भाषा का न होने के कारण यही राष्ट्र-भाषा पद के योग्य है।

संस्कृत हिन्दुओं की धर्म-भाषा है और इसी में उनके सभी धर्म-ग्रन्थ हैं। इसलिए सारे भारत में लोग धर्म के कारण संस्कृत लिपि से परिचित हैं और चूँकि यही हिन्दी की भी लिपि है इसलिए यह राष्ट्र-लिपि होने की अधिकारिणी है। परन्तु मुसलमानों के परितोषार्थ कहा जाता है कि दोनों लिपियाँ सबको सीखनी चाहिएं। अनुभव से जाना गया है कि जिस लिपि व भाषा का व्यवहार किया जाता है वही याद रहती है और अव्यवहृत लिपि या भाषा भूल जाती है। फिर दोनों लिपियों का दोनों भाषाओ के बिना कोई अर्थ नहीं होता और दोनों भाषाओं को राष्ट्र- ाषा बनाने से भारतवर्ष में असामंजस्य उत्पन्न हो जायगा। दो भाषाओं की ावना को, जो अभी अकेले संयुक्त प्रांत में है, सारे भारत में फैला देना न तो बुद्धिमानी है और न उससे कोई लाभ ही है। हिन्दी तो चल सकती है, परन्तु उर्दू लिपि और भाषा उनमे कभी घर नहीं कर सकती और वे इच्छा पूर्वक उसे सीखेंगे भी नहीं, क्योंकि उनका कोई तात्कालिक का उसके बिना असिद्ध नहीं रह सकता।

चाहे जिस दृष्टि से देखिये, हिन्दी के सिवा राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता किसी भारतीय भाषा में नहीं है। इसके विपरीत यत्न करने से वह कभी सफल नहीं हो सकता।

: ६ :

# राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

( सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी )

विधान-परिषद् भारत के विधान या शासन-पद्धति को अन्तिम रूप देने के लिए उसके मसौदे पर विचार कर रही है। इस समय उसे दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपना अन्तिम निर्णय देना होगा। एक है कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में बना रहे या उससे निकलकर अपने को स्वतन्त्र प्रजातंत्र घोषित करे, और दूसरा यह है कि भारत की राष्ट्र-भाषा क्या होनी चाहिए। ये दोनों प्रश्न ऐसे हैं जिन पर भारत की स्वाधीनता अवलम्बित है। ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल में भारत के बने रहने से वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता, राष्ट्र-मण्डल का पुछल्ला बन जाता है। संसार के गोरे राष्ट्र जिन दो दलों में बँट गए हैं उन्हीं के पश्चिमी दल में यह रह जाता है और इस प्रकार दूसरे दल से अकारण वैर और वैमनस्य मोल लेता है। इसके सिवा ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के कई अंगों की भारत से अनबन भी है। इसीलिए भारत को ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल से निकल आने का ही निर्णय करना चाहिए।

दूसरा प्रश्न स्वतन्त्रता के सिवा हमारे स्वाभिमान से भी सम्बन्ध रखता है। हमारे देश में अंग्रेजी भाषा के अनेक पण्डित हैं। इनमें अधिकांश का मत है कि अभी हमारा काम अंग्रेजी से चलता है और यह संसार की बहुत बड़ी भाषा है। प्रायः २०-२०॥ करोड लोगों में इसका प्रचार है। यह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी है, इसलिए हमें इसी को

राष्ट्र-भाषा मान लेना चाहिए परन्तु ये विद्वान् आकाशदर्शी ज्योतिषी की भाँति आकाश पर दृष्टि रखते हैं, पृथ्वी पर क्या है इसका ध्यान नहीं रखते। अंग्रेज इस देश में डेढ़-दो-सौ वर्षों तक रहे, परन्तु हमारे देश में साक्षरता प्रचार तो उनके किये हुआ ही नहीं, अंग्रेज़ी शिक्षा की तो चर्चा ही व्यर्थ है। ३२ करोड़ भारतवासियों में से अंग्रेजों का ज्ञान कितने करोड़ को है? ऐसी दशा में जिस भाषा की जड़ ही देश में नहीं है, वह राष्ट्र-भाषा कैसे हो सकती है? इसके सिवा दूसरे देश की भाषा को अपनाने से वैसे ही अप्रतिष्ठा होती है जैसे दूसरे देश के राजा को राजा मान लेने से।

इस कारण हमारी राष्ट्र-भाषा अपने देश की ही कोई भाषा हो सकती है। हमारे देश की आधुनिक भाषाएं आर्य द्राविड नामों से दो थोकों में बाँटी गई। आर्य भाषाएं आठ और द्राविड चार हैं। आठ आर्य भाषाओं में सिन्ध के पाकिस्तान में चले जाने से भारत राष्ट्र में सात ही भाषाएं रह जाती हैं। ३२ कोटि भारतवासियों में कोई २५-२६ कोटि तो आर्य-भाषा-भाषी और ७-८ कोटि द्राविड़-भाषा-भाषी हैं। इन्हीं में सन्थालों, मुण्डों, भीलों आदि तथा आसाम की सीमा तथा पहाड़ों पर बसे मीरी, मिश्मी तथा गारो और जयन्तिया के लोगों की भाषाएं भी समझनी चाहिएं। इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि बहुजन-समाज की भाषा ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, इसलिए कोई आर्य भाषा ही राष्ट्रभाषा बनानी होगी।

आर्य भाषाओं मे हिन्दी ही बहुजनसमाज की भाषा है, क्योंकि इसके बोलने वालों और समझने वालों की संख्या लगभग २० करोड़ के पहुंच जाती है। हिन्दी मध्यदेश की भाषा है, इसलिए इसकी सीमाओं पर जो अन्य भाषा-भाषी रहते हैं वे भी हिन्दी यदि बोल नहीं सकते तो समझ तो अवश्य सकते हैं। ऐसी अवस्था में हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा पद की अधिकारिणी है। हिन्दी के साथ ही और इससे मिलती-जुलती एक दूसरी भाषा भी है जिसका नाम उर्दू है। परन्तु

एक तो हिन्दी के समान इसका विस्तार नहीं है और दूसरे इसका रंग-रूप भारतीय नहीं है। उर्दू बोलने और पढ़ने-लिखने वालों को यदि बहुत बढ़ाकर भी बतायं, तो दिल्ली से लेकर इलाहाबाद तक ही वे रह जाते है। परन्तु इस क्षेत्र के सभी लोग उर्दू नही समझते। इसलिए उर्दू वालों की संख्या डेढ़-दो करोड़ से अधिक नहीं हो सकती।

मुसलमान उर्दू को अपनी भाषा कहते हैं। यदि सचमुच उर्दू मुसलमानो की भाषा हो तो युक्तप्रांत में, जो उर्दू का गढ़ है, मुसलमानों की संख्या प्रतिशत १४ से अधिक नहीं है। दिल्ली और उसके आस-पास भी मुसलमानो की बस्ती है। परन्तु गांवों में रहने वाले मुसल-मानों की भाषा उर्दू नहो है। वे तो हिन्दुओं की तरह गाँवों की बोलियां ही बोलते है। लिखना-पढना जो जानते है, वे उर्दू अक्षर भले ही लिख-पढ लेते हों, परन्तु भाषा का साहित्य नही समझ सकते। बिहार में मुसलमानों की संख्या ६ प्रतिशत है तथा महाकौशल में तो ५ भी नहीं है। हम यह मानते हैं कि दिल्ली और युक्तप्रदेश के पश्चिमी जिलो में कुछ हिन्दू भी उर्दू साहित्य के ज्ञाता और पारखी हैं, जिनमे सर तेजबहादुर सप्रू तथा पुराने काश्मीरी ब्राह्मणों और कायस्थों की गिनती होती है। यद्यपि इधर उर्दू का प्रचार देश में बहुत घट गया है और सर तेजबहादुर आदि के परिवारो में भी हिन्दी का साम्राज्य स्थापित हो चुका है, तथापि उर्दू भाषा भी एक भाषा है। पर वह इतनी छोटी है कि राष्ट्र-भाषा हो नही सकती। उसकी जड़ तो स्वदेशी है, क्योंकि हिन्दी की विभक्ति, प्रत्यय, क्रियापद, अधिकांश अव्यय और सर्वनाम तथा संज्ञा उसका मूलाधार है, तथापि इस पर फ़ारसी और अरबी की इमारत उठाई गई है। अक्षर भी स्वदेशी नहीं है। इसलिए यह व्यवहार में विदेशी है।

आज तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान मे प्रायः ४२ करोट मनुष्यों का वास है, पर १८७३ मे शायद भारत-भर में ३५ करोड लोग भी न थे। उस समय पादरी एथरिंगटन ने, जिनका 'भाषा-भास्कर' नामक

व्याकरण प्रसिद्ध है, अपने 'स्टूडेण्ट्स ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंगवेज' की भूमिका में लिखा था—

"हिन्दी सम्भवत: ढाई करोड भारतवासियों से कम की मातृ-भाषा नहीं है। यह पश्चिमोत्तर प्रदेश, पंजाब, राजपूताने के बडे भाग, मध्य-भारत और बिहार-भर में बोली जाती , और जिस रूप में इसका प्रयोग बनारस में होता है उससे वह सिखों, गुजरातियों, मराठों और नैपालियों तथा और जातियों की समझ में झट आ जाती है, जिनकी अपनी अलग बोलियाँ हैं। तब चाहे उस भू-भाग के विस्तार का विचार करें जिसमें वह बोली जाती है अथवा उसके बोलने वालो की संख्या और जातियो के महत्त्व का विचार करें। कुछ भी हो, हिन्दी उत्तर भारत की भाषा मानी जा सकती है।

"ऐसा ही दावा मुसलमानों की भाषा उर्दू के लिए भी किया जाता है, जो अपेक्षाकृत छोटा समुदाय है। परन्तु यद्यपि उत्तर भारत के शहरों और बहुत-से बडे कस्बों मे दूसरी भाषा के रूप में बहुतेरे शिक्षित हिन्दू भी उसे बोलते हैं, तथापि उर्दू का प्राधान्य भारत के किसी प्रदेश पर नहीं है, और अवस्था ऐसी है कि मुसलमानों के सिवा वह किसी श्रेणी के लोगों की भाषा नहीं हो सकती।"

ढाई करोड हिन्दी-भाषियों की संख्या बताकर नीचे टिप्पणी में लेखक ने लिखा है:—"बात को बढ़ाकर न कहने की इच्छा से यह लिखा गया था; परन्तु हाल की विश्वसनीय जानकारी से मेरी प्रवृत्ति यह विचारने की होती है कि भारत की हिन्दी-भाषी जन-संख्या ५ करोड से कम नहीं हो सकती। निश्चय ही सब सांस्कृतिक भाषाओं से हिन्दी बहुत विस्तृत भाग में बोली जाती है।"

उनके राष्ट्रभाषा पद के दावे को पादरी डब्ल्यू० एथरिंगटन ने आज से ७१ वर्ष पहले ही खारिज कर दिया था। यह वह समय था, जब हिन्दू लडके स्कूलों में कुछ अरबी-फारसी पढ़ा करते थे और माता-पिता जीविका के लोभ में श्री गणेशाय नमः के बदले बिसमिल्लाह

उर्रहमान उर्रहीम कहकर बच्चों को अक्षरारम्भ कराते थे। उस समय हिन्दी को राज्याश्रय तो था ही नहीं, वह तिरस्कृत अवस्था में दिन काट रही थी। परन्तु उसका महत्त्व जब उस समय था, तब तो आज जब, मद्रास में भी पहुँचकर वह लाखों स्त्री-पुरुषों और बच्चों की राष्ट्र-भाषा बन चुकी है, तब उर्दू का उसकी जगह लेने का प्रयास अनधिकार चेष्टा के सिवा कुछ नहीं है। उर्दू में साहित्य है और उसे उन्नत करने में निजाम आदि मुसलमान नवाबों का बड़ा हाथ रहा है। पर उसका सम्बन्ध अरबी फारसी से रहने के कारण देश उसे कैसे राष्ट्र-भाषा बना सकता है? उर्दू की लिपि का सम्बन्ध फारसी से है, भारत की किसी भाषा से नहीं। इसका सीखना तो सहज है ही नहीं, पर इसके शब्दों का वर्ण-विन्यास व हिज्जे करना कठिन है। हिन्दुस्तानी तो सौदा-सुल्फ के सिवा किसी काम नहीं आ सकती। उर्दू के लेखक के हाथ में उर्दू बन जायगी और हिन्दी-लेखक के हाथ में हिन्दी बन जायगी।

उर्दू के बाद राष्ट्र-भाषा पद का एक भारतीय भाषा भी दावा करती है जो आर्यभाषा ही है। यह बंगला है। बंगालियों में अपनी भाषा का ही नहीं, अपने बंगालीपन का भी बड़ा अभिमान है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को नोबेल प्राइज़ क्या मिला, बंगला भाषा के अनेक अभिमानी जमीन पर पैर ही नहीं रखते। वे कहते हैं कि बंगला सब भारतीय भाषाओं से उन्नत है, इसलिए यही राष्ट्र-भाषा होनी चाहिए बंगला के मुकाबले में हिन्दी कुछ नहीं है, इसलिए यह राष्ट्र-भाषा का काम नहीं कर सकती। परन्तु यदि विधान-परिषद् इतनी जड़ हो जाय कि यह हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा बनाना निश्चय कर ले, तो उसे बंगला को भी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए। ऐसा करना कुछ अनुचित नहीं है, क्योंकि स्वीजरलैंड और रूस में एकाधिक भाषाएं राष्ट्र-भाषा हो रही हैं।

बंगला को राष्ट्र-भाषा बनाने के उद्योगियों का दिमाग इतना खराब

हो गया है कि ये यहाँ तक बहक गए हैं कि उनके ध्यान में यह भी नहीं आता कि उनके पूर्वजों ने बंगला को इस योग्य कभी नहीं ठहराया। राजा राममोहनराय ने जब १८२६ में 'बंगदूत' निकाला था, तब भी हिन्दी का दर्जा बड़ा था। वह आजकल के बंगालियों की तरह नहीं थे, जो हिन्दी न जानने पर भी उसमें राष्ट्र-भाषा के गुण नहीं पाते। वह हिन्दी, बंगला और फारसी के ज्ञाता थे। इसलिए तीनों भाषाओं में 'बंगदूत' निकाला था। मुसलमानी अमलदारी खत्म हो जाने पर भी फारसी उन दिनों वही काम करती थी, जो आज अंग्रेजी करती है। बंगला तो बंगाल की भाषा थी, इसलिए रखी गई थी। हिन्दी ने भारत के बड़े भाग की भाषा होने के कारण ही उसमें स्थान पाया था।

बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी, जिनके 'वन्देमातरम्' गीत को राष्ट्र-गीत बनाने के लिए बंगाली सज्जन आग्रह कर रहे हैं, सचमुच ऋषि थे, क्योंकि भविष्य-द्रष्टा थे और 'ऋषिर्दर्शनात्' से दर्शन करने या देखने वाला ही ऋषि कहाता है। उन्होंने ७१ वर्ष पहले अपने 'बंग-दर्शन' के ४ वें खण्ड में बंगला सन् १२८४ में लिखा था :—

"हिन्दि भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये याहारा ऐक्य बन्धन स्थापित करिते पारिबेन ताहाराई प्रकृत भारतबन्धु नामे अभिहित हइवार योग्य। सकले चेष्टा करून-यत्न करून यत्त दिन परेई हउक, मनोरथ पूर्ण हइबे। हिन्दी भाषाये पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल-साधना करिबेन—केवल बाङ ओ इंराजी चर्चाय हइबेना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सहित तुलना करिये बांगलाओ इंराजी कलेजन लोक बलिते ओ बुझिते पारेन? बांगलार न्याय हिन्दिर उन्नति हइतेछे ना इहार देशेर दुर्भाग्येर विषय।"

अर्थात्, "हिन्दी भाषा की सहायता से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में जो लोग ऐक्य-बन्धन स्थापित कर सकेंगे वे ही प्रकृत भारत

बन्धु कहाने योग्य हैं। चेष्टा कीजिए, यत्न कीजिए, कितने ही बाद क्यों न हो मनोरथ पूर्ण होगा। हिन्दी भाषा में पुस्तक और वक्तृता द्वारा भारत के अधिकांश स्थानों का मंगल-साधन कीजिए—केवल बंगला और अंग्रेजी की चर्चा से काम न चलेगा। भारत के अधिवासियों की तुलना करने पर बंगला और अंग्रेजी कितने लोग बोल और समझ सकते हैं? बंगला की भाँति हिन्दी की उन्नति नही होती ये देश के दुर्भाग्य की बात है ?

आज से ४० वर्ष पहले भी बंगाली संपादकों में बंगला के वर्तमान अभिमानियों की-सी संकीर्ण प्रादेशिकता नहीं थी। उस समय पं० सुरेशचन्द्र समाजपति 'वसुमति' के और पं० ब्रह्मबान्धव उपाध्याय 'सन्ध्या' के सम्पादक थे। श्री अरविन्द घोष 'कर्मजोगिन' और धर्म के सम्पादक थे। इन पत्रों में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की योग्यता का समर्थन किया गया था। पीछे 'तापध' आदि और कई पत्रों में भी हुआ। क्रान्तिकारी दल के बंगाली युवक हिन्दी सीखने का यत्न करते थे। अवश्य ही उस समय कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को नोबेल प्राइज नहीं मिला था और बंगला का जो महत्त्व आज बंगला के अभिमानियों की समझ में आया है वह पहले किसी बंगाली विद्वान् की समझ में नहीं आया था। बाबू भूदेव मुकर्जी ने विहार में हिन्दी-प्रचार कार्य से जो यश प्राप्त किया था उसकी कहानियाँ आज भी सुनी जाती हैं। आज भी डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे विद्वान् हिन्दी का राष्ट्रभाषात्व स्वीकार करते हैं। पश्चिम बंगाल के वर्त्तमान शिक्षा-मंत्री बंगालियों के हिन्दी सीखने की आवश्यकता का अनुभव करते है।

भारत-संघ मे जो बंगाल है उसमें दो करोड़ की बस्ती भी नहीं है और बंगाली भाई चाहते हैं कि बंगला भाषा ही यदि भारत की राष्ट्र-भाषा न बनाई जाय तो कम-से-कम यह भी एक राष्ट्र-भाषा तो बना ही दी जाय, क्योंकि यह भाषा सब भारतीय भाषाओं से श्रेष्ठ है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि बंगला भाषा में बड़ी विभिन्नता है।

चटगाँव का बंगाली यदि अपनी बोली बोले तो कलकत्ते का बंगाली मुँह ताकता रह जाय। ढाके की बोली भी समझना उसके लिए कठिन है। और तो क्या, यहाँ हिन्दी से ही काम निकालना पड़ता है। ऐसी दशा में हिन्दी का महत्त्व घटाने और बंगला का बढ़ाने का यत्न करना हास्यास्पद है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने तो चीन में दो चीनियों का झगड़ा हिन्दी के सहारे ही तय किया था।

हिन्दी की महिमा के विषय में इतना ही बताना बहुत है कि यह मध्य देश की भाषा और इसकी लिपि संस्कृत लिपि होने के कारण भारत-भर में प्रचलित है। मध्य देश भारत का हृदय है! यहाँ गंगा-यमुना जैसी पवित्र नदियाँ हैं। गया जैसा तीर्थ-क्षेत्र है जहाँ पिण्ड-दान करके हिन्दू-मात्र अपने पितरों का उद्धार करते हैं। सात मोक्ष-दात्री पुरियों में पाँच इस भू-भाग में ही है। द्वारिका यद्यपि गुजरात में है तथापि वहाँ हिन्दी का बोल-बाला है। कांची की भाषा तामिल है सही पर पश्चिमी बंगाल के शिक्षा-मंत्री श्री हरेन्द्रनाथ मुकर्जी का कहना है कि वहाँ भी हिन्दी से काम चल जाता है। चारों धामों की यात्रा हिन्दी बोलकर ही मनुष्य कर सकता है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में ७ मध्य प्रदेश में ही है। जो लोग इन स्थानों की यात्रा करते हैं, उनकी भाषा चाहे जो हो, हिन्दी के द्वारा काम चलाते हैं। इस प्रकार हिन्दी भारत की भाषा बनी है।

द्राविड भाषाओं से आर्य भाषाओं की भिन्नता भाषा-शास्त्री बताते हैं परन्तु संस्कृत का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और दक्षिण में संस्कृत का पठन-पाठन उत्तर की अपेक्षा अधिक ही है। हिन्दी बंगला की भाँति अपनी श्रेष्ठता का ढोल नहीं पीटती, पर जब उसे राष्ट्र-भाषा का उच्च स्थान दिया जायगा तब उसकी सब त्रुटियाँ दूर हो जायंगी।

◆

: ७ :

# भारत की राष्ट्र-भाषा और लिपि

( महापण्डित राहुल सांकृत्यायन )

हमारा देश अब वह नहीं रहा, जो सदियों से चला आ रहा था। जिस वक्त आज का हिन्दी-भाषा-भाषी भारत परतन्त्र हुआ उस वक्त हमारा हिन्दी का वह रूप गुजरात, कन्नौज, पटना में बोला और लिखा जाता था, जो सातवीं सदी में आरम्भ हुआ था और जिसके अमर-लेखक सरह, स्वयम्भू, पुष्पदन्त एवं हरिब्रह्म आदि थे। भाषा हमारी ही जैसी थी, किन्तु वह तद्भव का रूप था। उस समय के बाद हमारी भाषा दासो की भाषा समझी गई। फारसी ने दरबारों और कचहरियों में अपना स्थान जमाया। धीरे-धीरे हिन्दी उस दयनीय दशा पर पहुँची, जब कि उन्नीसवी सदी के आरम्भ में लल्लूलाल जी ने 'प्रेम सागर' लिखा। फिर उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारतेन्दु और उनके साथियों ने हिन्दी को अपना स्थान दिलाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। स्वर्गीय गोविन्द नारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', रामावतार शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक आदि कितने तपस्वी और मुनि जो स्वप्न देखते चले गए, वह आज पूरा हुआ। आज फिर अपने प्राचीनतम रूप अपभ्रंश हिन्दी की भाँति हमारी हिन्दी स्वतन्त्र भारत की सम्माननीय भाषा का पद प्राप्त कर रही है। सात सौ सदियों का अन्तर है। इतने दिनों के

अन्तर्धान के बाद हिन्दी-सरस्वती पुनः बड़े वेग से अपने स्थान पर प्रकट हुई है और आज उसका दायित्व और कार्य-क्षेत्र बारहवीं सदी से कहीं अधिक है। यद्यपि दरबारों में उस वक्त भी उसका सम्मान था, कितने कागज-पत्र भी लिखे जाते थे, तो भी अभी सबसे ऊँचा स्थान मातृ-भाषा को नहीं, बल्कि संस्कृत को प्राप्त था। संस्कृत का कवि ही 'ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते' और ताम्र-शासनों में भी संस्कृत का प्रयोग होता था। आज हमारे हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी के सर्वे-सर्वा होने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। उसे हिन्दी-प्रान्तों के न्यायालयों, पार्लमेण्टों और सरकारी शासन-पत्रों की ही भाषा नहीं बनना है, बल्कि आज के विकसित विज्ञान की हर एक शाखा के अध्ययन का माध्यम भी बनना है। यह बहुत भारी काम है; लेकिन मुझे विश्वास है कि हमारी हिन्दी उसे सहर्ष वहन करेगी।

आज फिर भारत एक संघ में बद्ध हुआ है। हमारे भारत-संघ की कोई एक भाषा भी होनी आवश्यक है। संघ-भाषा के बारे में कुछ थोड़े-से लोग अपने व्यक्तिगत विचार और कठिनाइयों को लेकर बाधा डालना चाहते हैं। हम पूछेंगे कि जब संघ के काम के लिए भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं को लेना सम्भव नहीं तब किसी एक भाषा को हमें स्वीकार करना ही होगा।

आश्चर्य करने की बात नहीं है, यदि अब भी कुछ दिमाग यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते और अब भी अंग्रेज़ी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाए रखने का आग्रह करते हैं। यह भी दासता के अभिशाप का अवशेष है। इन्होंने अंग्रेज़ी छोड़ किसी भारतीय भाषा पर अधिकार नहीं पाया, सदा साहबी ठाट में रहे और कभी खयाल भी नहीं किया कि देश की जनता भी किसी भाषा से सम्बन्ध रखती है और उसका साहित्य, जहाँ तक शुद्ध साहित्य का सम्बन्ध है, विश्व की किसी भाषा से पीछे नहीं है।

कोई भी अविकृत मस्तिष्क आदमी आज अंग्रेज़ी को राष्ट्र-भाषा

बनाने की कोशिश नहीं करेगा। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि हमारे रेडियो अब भी अंग्रेज़ी के अधिक प्रचार का साधन बन रहे हैं। उन्हे फ्रेंच और रूसी रेडियो के प्रोग्रामों को देखना चाहिए कि वहाँ कितने प्रतिशत मिनट प्रोग्राम अंग्रेज़ी में चलते हैं।

सवाल है—हिन्दी और उर्दू दोनो भाषाओं और दोनों लिपियों को भी क्यों न सारे सघ की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि मान लिया जाय ? पूछना है : अपनी मातृ-भाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा लादना व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है ? संघ की राष्ट्र-भाषा सिर्फ एक होनी चाहिए। स्वीजरलैण्ड की तीन भाषाओं का दृष्टांत हमारे यहाँ लागू हो सकता था, यदि हमारा देश एक तहसील या ताल्लुके के बराबर होता। हमारे यहाँ जो उदाहरण लागू हो सकता है वह है सोवियत-संघ का, जहाँ ६६ भाषाएँ बोली व लिखी जाती हैं। द्रविड़ भाषाओं में तो अब भी ६०-६० प्रतिशत तक संस्कृत शब्द मिलते हैं—वही संस्कृत शब्द जो उत्तरी भाषाओं में हैं, किन्तु सोवियत की मंगोल व तुर्की सम्बन्ध की पचासो भाषाओं का रूसी भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं। तो भी वहाँ के लोगों ने संघ की एक भाषा मानते वक्त रूसी को वही स्थान दिया, क्योंकि वह दो-तिहाई जनता की अपनी भाषा थी और देश में भी बहुत दूर तक प्रचलित थी। हिन्दी का भी वही स्थान है। इसलिए एक भाषा रखते वक्त हमें हिन्दी को ही लेना होगा। हिन्दी-भाषा-भाषी बहुत भारी प्रदेश तक फैले हुए हैं। इतना ही नहीं, बल्कि आसामी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी ऐसी भाषाएँ हैं जो हिन्दी जानने वालों के लिए समझने में बहुत आसान हो जाती हैं, उनका एक-दूसरे का बहुत निकट का सम्बन्ध है। मैंने उड़िया नहीं पढी थी और न उसे सुनने का वैसा मौका मिला जा। लेकिन गत वर्ष कटक में मै एक नाटक देखने गया। मैं डरता था कि शायद समझने में दिक्कत होगी; लेकिन पहले दिन के ही

संवाद को मैं ८० सैंकड़ा समझ गया, और उड़िया भाषा ने अपने सौन्दर्य से मुझे बहुत आकृष्ट किया। मैंने यात्रा, दर्शन और राजनीति के सम्बन्ध में गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला-भाषा-भाषियों के सामने कितनी ही बार व्याख्यान दिये हैं और भारी संख्या में उनके साव-धानतापूर्वक सुनने से सिद्ध था कि वे हिन्दी समझ लेते हैं। हाँ, यहाँ इस बात का जरूर ध्यान रखना पड़ता था कि हिन्दी में जब-तब आने वाले अरबी-फारसी शब्दों की जगह तत्सम संस्कृत शब्दो का प्रयोग किया जाय। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अरबी-फारसी से लदी उर्दू भाषा को भारत के दूसरे प्रान्तों पर लादा नहीं जा सकता।

और लिपि ? उर्दू लिपि, जो कि वस्तुतः अरबी लिपि है, इतनी अपूर्ण लिपि है कि उसे खुद बहुत-से इस्लामी देशों से देश-निकाला दिया जा चुका है। उसको लादने का ख्याल हमारे दिल में आना नहीं चाहिए।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के लिए जब कहा जाता है तो कहीं-कहीं से आवाज़ निकलती है—हिन्दी वाले सारे भारत पर हिन्दी का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। यह उनका झूठा प्रचार है और वह हिन्दी भिन्न-भाषा-भाषियों के मन में यह भय पैदा करना चाहते हैं कि हिन्दी के संघ-भाषा बनने पर उनकी भाषा का साहित्य और अस्तित्व मिट जायगा। यह विचार सर्वथा निर्मूल है। अपने क्षेत्र में वहाँ की भाषा ही सर्व-सर्वा होगी। बंगाल में प्रारम्भिक स्कूलों व यूनिवर्सिटी तक, गाँव की पंचायतों से प्रांत की पार्लमेण्ट और हाईकोर्ट तक सभी जगह बंगला का अक्षुण्ण राज्य रहेगा। इसी तरह उड़ीसा, आंध्र, तामिलनाड, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और आसाम में भी वहाँ की भाषाओं का साहित्यिक और राजनैतिक दोनो क्षेत्रों में निरबाध राज्य रहेगा। हिन्दी का काम तो वहाँ ही पड़ेगा, जहाँ एक प्रांत का दूसरे प्रांत से सम्बन्ध होगा। इसको कौन नहीं स्वीकार करेगा कि बंगाली, उड़िया, मराठी, गुजराती, तेलगू और कर्नाटकी जब

एक जगह अधिकाधिक मिलेंगे तो उनके आपसी व्यवहार के लिए कोई एक भाषा होनी चाहिए।

इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसी भाषा, भारत में जब-जब राजनैतिक एकता या अनेकता भी रही, तब-तब मानी गई। अशोक के शिलालेखों की भाषा मैसूर, गिरनार, जौगढ ( उड़ीसा ) और कालसी ( देहरादून ) इसका प्रथम प्रमाण है। फिर संस्कृत ने माध्यम का स्थान लिया, यद्यपि इसमें संदेह है कि वह कचहरियों और दरबारों की बहु-प्रचलित भाषा न थी। अपभ्रंशकाल ( ७-१२ वीं सदी ) में हम आसाम से मुल्तान, गुजरात-महाराष्ट्र से उड़ीसा तक अपभ्रंश भाषा में कवियों को कविता करते पाते हैं। उनमें कितने ही दरबारी कवि हैं। इस अपभ्रंश भाषा में इन सारे प्रदेशों की भाषा का बीज मौजूद है, परन्तु उनकी शिष्ट-भाषा अवध और ब्रज के बीच की भूमि—पंचाल—की भाषा थी, जिसका मुख्य नगर कन्नौज मौखरियों के समय से गाहड़-वारों के समय ( ६-१२ वीं सदी ) तक उत्तरी भारत का सबसे बड़ा राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र रहा। इस तरह अपभ्रंश उस समय सारे भारत में वही काम कर रही थी, जो गैरसरकारी तौर से आज तक और सरकारी तौर से आगे हिन्दी को सारे भारत में करना है।

हिन्दी को हिन्द-संघ के ऊपर राष्ट्र-भाषा के तौर पर लादने का सवाल नहीं है। यह तो एक व्यवहार की बात है। मुसलमानी शासन-काल में भी कितनी ही हमारी अन्तर्प्रान्तीय साधु-संस्थाएं रहीं और वे आज तक चली जा रही हैं। उन्हीं को देखिए, किस भाषा को उन्होंने सुव्यवहार्य समझ कर अपने भाषण और लिखा-पढी के लिए स्वीकार किया? संन्यासियों या वैरागियों के अखाड़े और स्थान जाकर देखिए वह समुद्र की तरह है, जहाँ सचमुच ही सैकड़ों नदियाँ जाकर मिलती है और नाम रूप विहाय समुद्र बन जाती है। इन अखाड़ों की बड़ी-बडी जमातें चलती हैं, और कुम्भ के मेलो के वक्त तो उनकी संख्या लाखों तक पहुँच जाती है। वहाँ जाकर पता लगाइये कि मालाबारी,

तेलगू, नेपाली, बंगाली, पंजाबी और सिंधी साधु-संन्यासी किस भाषा में आपस में बातचीत करते हैं ? हिन्दी में और सिर्फ हिन्दी में। इसका गाँधी जी के दक्षिण हिन्दी-भाषा-प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारी आज की हिन्दी संस्थाओं से सदियों पहले से यह काम हो रहा है। अखाड़ों में रखी अब भी आपको दो-दो सौ वर्ष की और कुछ पुरानी भी बहियाँ और चिट्ठियाँ इस बात का सबूत देंगी। इन्हीं अखाड़ों के एक प्रतिनिधि अतिकेचनगिरि ने १८६६ सम्वत् ( १८०६ ई० ) में सोवियत के बाकू नगर के पास ज्वाला जी के मन्दिर पर शिलालेख खुदवा कर लगाया "॥६०॥ ओं श्री गणेशाय नमः ॥श्लोक॥ स्वस्ति श्री नरपति विक्रमादित्य राज साके॥ श्री ज्वालाजी निमत दरवाजा वणया: अतिकेचनगिर संन्यासी रामदहावासी कोटेश्वर महादेव का॥ "असौज वदी ८ सम्वत् १८६६ ॥"

अस्तु, इससे यह तो साफ है कि जब-जब व्यवहार की बात आई तब-तब हिन्दी ही सारे भारत की अंतर्प्रान्तीय भाषा स्वीकार की गई यदि इस पुराने तजरुबे को नहीं मानते हैं तो चाहें तो फिर तजरुबे कर लें। हिन्द-भाषा-भाषियों को अलग रखकर पंजाबी, आसामी, बंगाली, उड़िया, आन्ध्र, तमिल, केरल, कर्नाटकी, मराठी, गुजराती लोगों को ही व्यवहार से इसके बारे में फैसला करने के लिए छोड़ दें। मैं समझता हूँ, यदि वे सारे भारत की एकता के पक्षपाती हैं तो उनका तजरुबा भी हिन्दी ही के पक्ष का समर्थन करेगा।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी स्वीकार करने पर भी कोई-कोई भाई रोमन लिपि स्वीकार करने के लिए कह रहे हैं। क्या वह अधिक वैज्ञानिक है ? वैज्ञानिक का मतलब है—लिपि से उच्चारण से अधिक अनुरूप होना—लेकिन रोमन लिपि के २६ अक्षर हमारे सारे उच्चारणों को प्रकट नहीं कर सकते। नागरी अक्षरों में हम सबसे ज्यादा शुद्ध रूप से किसी भी भाषा को लिख सकते हैं और बिना चिह्न दिये। चिह्न देने पर रोमन में जितने पैबन्द लगाये जाते हैं, उससे कम ही चिह्नों को लगाकर नागरी

द्वारा हम दुनिया की हर भाषा के शब्दों को उच्चारणानुसार लिख सकते हैं। इसलिए जहाँ तक उच्चारण का सम्बन्ध है, हमारी नागरी दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है।

रहा सवाल प्रेस और टाइपराइटर का, तो उसमें कुछ मामूली सुधार की आवश्यकता अवश्य है, और यह सुधार संयुक्त-अक्षरों के टाइपों के हटाने, मात्राओं को 'अ' के ऊपर लगाने तथा दूसरे अक्षरों पर लटकती मात्राओं के शरीर को अपने शरीर तक समेट कर किया जा सकता है। इससे हिन्दी टाइप की संख्या ४८५ की जगह १०४ हो जायगी। अंग्रेजी में १४७ टाइपों का फाँट होता है। अंग्रेजी की तरह छोटे-बडे अक्षरों का अनावश्यक बोझ हमारी लिपि पर न होने से टाइपराइटर में और सुविधा है, और अंग्रेजी टाइपराइटर के बोर्ड पर ही सारे टाइप लग जाते हैं।

इस प्रकार सारे संघ की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि हिन्दी ही होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि उदू पढ़ने वालों के लिए सुविधा ही न दी जाय। हर एक को अपनी भाषा और अपनी लिपि पढ़ने का अधिकार होना चाहिए। जो उर्दू भाषा-भाषी अपनी शिक्षा उर्दू भाषा द्वारा लेना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वे स्कूलों ही में नहीं, चाहें तो अलीगढ यूनीवर्सिटी में उर्दू को माध्यम रख सकते हैं। लेकिन जो समय सामने आ रहा है, उसे देखते हुए मैं उन्हें परामर्श दूँगा कि लिपि के आग्रह को छोड़कर उर्दू के लिए भी वे नागरी लिपि को अपनायं। आखिर पश्चिमी एशिया के ताजिक और तुर्की भाषाओं को अरबी लिपि से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर हानि नहीं, बल्कि बहुत भारी लाभ हुआ है। सोवियत की ये भाषाएं रूसी लिपि में लिखी जाती हैं, जो ३२ अक्षरों की होने से रोमन से कहीं अधिक वैज्ञानिक है।

कोई-कोई उर्दू वाले कहने लगे हैं कि क्यों न रोमन लिपि को अपनाया जाय? यदि हिन्दी (नागरी) लिपि अरबी लिपि की तरह

दोषपूर्ण होती तो हमें रोमन लिपि अपनाने में कोई उजर न होता। लेकिन रोमन पक्ष-पाती उर्दू वाले भाइयों को नागरी जैसी लिपि को अपनाने में आनाकानी क्यों ? सिर्फ इसलिए कि अगर अरबी लिपि जाती है तो साथ साथ हिन्दी लिपि का भी बेडा गर्क हो।

उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेष सदियों से चला आया है सही, किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतया स्वीकार किये बिना फल-फूल नहीं सकता। ईसाइयों, पारसियों और बौद्धों की भारतीयता से एतराज नहीं, फिर इस्लाम ही को क्यों? इस्लाम की आत्म-रक्षा के लिए भी आवश्यक है कि वह उसी तरह हिन्दुस्तान की सभ्यता, साहित्य, इतिहास, वेश-भूषा मनोभाव के साथ समझौता करे, जैसे उसने तुर्की, ईरान और सोवियत मध्य एशिया के प्रजातन्त्रों में किया। धर्म को समाज के हर क्षेत्र में घुसेडना आज के संसार में बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। अभी हमारे राष्ट्रीय मुसलमान भाई भी नहीं समझ पाये हैं कि उनकी सन्तानों को नव भारत में कहाँ तक जाना है। नवीन भारत ऐसे मुसलमानों को चाहेगा, जो अपने धर्म के पक्के हों, किन्तु साथ ही उनकी भाषा वेश-भूषा, और खान-पान में दूसरे भारतीयों से कोई अन्तर न हो; भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति आदर रखने में वे दूसरे से पीछे न हों। भारतीय संघ के मुसलमानों की भी आज की तीसरी पीढी में हिंदी के अच्छे-अच्छे कवि और लेखक उसी परिमाण में होंगे, जिस परिमाण में वे आज उर्दू में हैं। वह समय भी नजदीक आयगा, जब कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति कोई हिन्दी का धुरंधर साहित्यकार मुसलमान होगा। आखिर पाकिस्तान के आधे से अधिक हिस्से में अरबी लिपि और अरबी-मिश्रित भाषा न होने से पूर्वी बङ्गाल में इस्लाम को खतरा नहीं है, फिर हिन्दी से उन्हें क्यों खतरा मालूम होता है ?

सारे संघ की राष्ट्र-भाषा के अतिरिक्त हिन्दी का अपना विशाल क्षेत्र है। हरियाना, राजपूताना, मेवाड़, मालवा, मध्य प्रदेश, युक्तप्रान्त

और बिहार हिन्दी की अपनी भूमि है। यही वह भूमि है, जिसने हिन्दी के आदिम कवियों सरह, स्वयम्भू आदि को जन्म दिया। यही भूमि है, जहाँ अश्वघोष, कालिदास, भवभूति और बाण पैदा हुए। यही वह भूमि है, जहाँ (मेरठ-अम्बाला कमिश्नरियों) पंचाल (आगरा-रुहेलखण्ड कमिश्नरियों) की भूमि में वशिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज ने ऋग्वेद के मन्त्र रचे और प्रवाहण, उद्दालक और याज्ञवल्क्य ने अपनी दार्शनिक उडाने कीं। इस भूमि के सारे भाग की हिन्दी मातृ-भाषा नहीं है, किन्तु वह है मातृ-भाषा जैसी ही। इस विशाल प्रदेश के हर एक भाग में शिक्षित, अ-शिक्षित, नागरिक और ग्रामीण सभी हिन्दी को समझते हैं। इसलिए यहाँ हिन्दी का राज-भाषा के तौर पर, शिक्षा के माध्यम के तौर पर स्वीकार किया जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

हिन्दी भारतीय संघ की राष्ट्र-भाषा होगी और उसके आधे से अधिक लोगो की अपनी भाषा होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अब एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। चीनी भाषा के बाद वही दूसरी भाषा है, जो इतनी बडी जनसंख्या की भाषा है। हिन्दी के ऊपर इसके लिए बड़ा दायित्व आ जाता है। हिन्दी को एक विशाल जन-समूह के राज-काज और बात-चीत को ही चलाना नहीं है, बल्कि उसी को शिक्षा का माध्यम बनना है। फिर आज कल की शिक्षा सिर्फ कविता, कहानी और साहित्यिक निबन्धों तक ही सीमित नहीं है। विश्व की प्रत्येक उन्नत भाषा का साहित्य अधिकतर साइन्स के ग्रन्थों पर अवलम्बित है। अभी तक तो साइन्स की पढाई अंग्रेजी ने अपने सिर पर ले रखी थी, किन्तु अब अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी का राज्य जा चुका है। सरह-स्वयम्भू से पन्त, निराला, महादेवी तक का हिन्दी काव्य-साहित्य बहुत सुन्दर और विशाल है। नाटक छोडकर सभी अंगों मे विश्व के किसी भी प्राचीन और नवीन साहित्य से उसकी तुलना की जा सकती है। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ने जो परम्परा

छोड़ी है, वह काफी आगे बढ़ी है। किन्तु अब हिन्दी में सारा ज्ञान-विज्ञान लाना होगा। कुछ लोग इसे बहुत भारी, शायद सदियों का काम समझते हैं; परन्तु मेरी समझ में यह उनकी भूल है। आज जिस चीज़ की माँग हो, उसे साहित्य-जगत् में सृजन करने वालों की कमी नहीं होती।

हमारे स्वतन्त्र देश के सामने बहुत और भारी-भारी काम हैं। हमारी चिर दासता ने हमें दुनिया के और देशों से बहुत पीछे रखा है। विदेशी शासक इसी में अपना हित समझते थे। अब सदियों की पिछड़ी यात्रा को हमें वर्षों में पूरा करना है। इसमें साहित्य की सहायता सबसे अधिक आवश्यक है। हमें ऐसा साहित्य तैयार करना है, जो दुनिया की दौड़ में आगे बढ़ने में सहायक हो, न कि हमें पीछे खींचे। निराशावाद के लिए मैं कहीं भी गुंजाइश नहीं देखता। हमारे पास बुद्धि-बल है। हमारी भारत-मही सचमुच वसुन्धरा है। हमारे बहत्तर करोड़ हाथ हैं। हमें विश्व की सबसे बड़ी तीन शक्तियों में अपना स्थान लेना है। इसलिए भारत के हरेक पुत्र और पुत्री के विश्राम लेने का मौका नहीं है। सबको एक साथ लेकर आगे कदम बढ़ाना है। देश के औद्योगीकरण और कृषि को विज्ञान-सम्मत बनाने में हमारे साहित्य को बहुत बड़ा भाग लेना है। आगे पच्चीस साल देश का सबसे अधिक कर्मठ जीवन होना चाहिए। हम भारत माता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

विधान-परिषद् यदि हिन्दी को हमारे भारत-संघ की राष्ट्र-भाषा मान लेती है, तो वह उससे हिन्दी पर कोई दया नहीं दिखलाती; बल्कि अपने इस काम से अपनी व्यवहार-बुद्धि का परिचय देती है। मान लीजिए विधान-सभा में हमारे नेताओं ने जैसे-तैसे करके हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करवा लिया। हिन्दुस्तानी का अर्थ है हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाएं तथा नागरी-और अरबी दोनों लिपियाँ किसी प्रांतीय सरकार को अपनी सीमा के भीतर अरबी लिपि और

उर्दू भाषा के प्रयोग के लिए केन्द्रीय सरकार बाध्य नहीं कर सकती क्योंकि प्रान्तों को अपनी-अपनी राष्ट्र-भाषा चुनने का अधिकार मिल चुका है। इसी तरह केन्द्र के साथ व्यवहार करने के लिए उर्दू और हिन्दी भाषाओं की लिपियों में किसी एक को चुनने का अधिकार रहेगा युक्तप्रान्त या बिहार से केन्द्रीय सरकार कभी आशा नहीं रख सकती कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों में केन्द्र के साथ लिखा-पढी करें। यह स्पष्ट ही है कि जब तक प्रान्तों को दोनों भाषाओं और लिपियों के व्यवहार के लिए बाध्य नहीं किया जाता तब तक हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रान्तों के भीतर तथा केन्द्र के साथ लिखा-पढी में व्यवहार किया जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ तक हिन्दी प्रान्तों का सम्बन्ध है, वहाँ की राज-भाषा और राष्ट्र-भाषा दोनों ही हिन्दी होगी। फिर क्या उर्दू भाषा और लिपि का व्यवहार बंगाल, आसाम, उडीसा, गुजरात, महाराष्ट्र और आन्ध्र आदि के मत्थे मढा जाय ? हाँ यदि इन प्रांतों के प्रतिनिधि उर्दू भाषा और लिपियों भी राष्ट्र-भाषा और लिपि के तौर पर रखने का आग्रह करते हैं, तो उन्हें खुद समझना चाहिए कि इसका फल उन्हीं को भोगना होगा। हिन्दी भाषा-भाषी प्रांत अपना मार्ग निश्चित कर चुके हैं; उन्हें जहाँ तक राज-काज का संबंध है, उर्दू भाषा से कुछ लेना-देना नहीं है।

◆

: ८ :

# राष्ट्र-भाषा का महत्त्व

## ( डाक्टर अमरनाथ झा )

हिन्दी-जगत् में जनपदीय भाषाओं के सम्बन्ध में बहुधा चर्चा हुआ करती है। भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और इसमें अनेक भाषाएं सदा से प्रचलित हैं। इतनी भाषाओं का रहना और इन सबका हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानना महत्त्व की बात है। कई भाषाएं तो संस्कृत से अपनी तुलना करती हैं। कई में उच्चकोटि का साहित्य है। सैंकड़ों वर्षों से इनमें साहित्य की रचना होती आई । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की नीति प्रांतीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं है। परन्तु विवाद यों खड़ा हुआ है कि हिन्दी की कुछ सन्निकट भाषाएं हैं जिनसे स्वातन्त्र्य की आशंका है। पूछा जाता है कि क्या बुन्देलखंडी अवधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा हिन्दी से भिन्न हैं और क्या इनके प्रोत्साहन से हिन्दी की क्षति नहीं होगी? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि वह अपनी मातृ-भाषा का अध्ययन करे और इसी में उसकी प्रारम्भिक शिक्षा हो। मातृ-भाषा प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम हो, इस विचार से सभी शिक्षक सहमत होंगे। आजकल की शिक्षा-प्रणाली में इस सुधार की सबसे बड़ी आवश्यकता है। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने पर जिस भाषा द्वारा शिक्षण हो, यह प्रश्न दूसरा है। मेरी सम्मति में हिन्दी-प्रांतों में

हिंदी—राष्ट्र-भाषा के रूप में—शिक्षा का माध्यम हो। प्रारम्भिक शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा पा लेने पर विद्यार्थी को राष्ट्र-भाषा सीखने अथवा राष्ट्र-भाषा द्वारा सीखने में कठिनता न होगी। इस पद्धति से मातृ-भाषाओं की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्र-भाषा का भी हित है। किसी प्रांत के निवासी के मन में यह आशंका उत्पन्न न होगी कि उसकी मातृ-भाषा का लोप होने वाला है। और इनमें से कई भाषाएं तो ऐसी हैं जिनमें अच्छा साहित्य भी है। हिन्दी का जो रूप अब प्रचलित है वह कुछ थोड़े भाग को छोड़कर कहीं के निवासियों की मातृ-भाषा नहीं है। परन्तु साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में यह इतना व्यवहार में है, सत्तर वर्ष से इसका इतना प्रचार हो गया है और भारतवर्ष की भाषाओं में इसकी इतनी प्रतिष्ठा हो गई है कि इसको सहज ही राष्ट्र-भाषा का पद मिल गया है। राष्ट्र-भाषा में ही दूसरी और उच्च श्रेणी की शिक्षा होनी चाहिए, परन्तु साथ ही अन्य भाषाओं में भी साहित्य-रचना होती रहे यह वांछनीय है। उदाहरण रूप में ब्रज-साहित्य इतना सुन्दर है और ब्रज-भाषा इतनी मधुर है कि इस साहित्य का भविष्य में अस्तित्व ही न रहे इसको कौन साहित्य-प्रेमी अंगीकार करेगा? हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कर्त्तव्य है कि वह इस साहित्य और इसी भाँति और साहित्य की भी उन्नति में सचेष्ट रहे।

हिन्दी उर्दू दोनों—राष्ट्र-भाषा हिन्दी का स्वरूप वही होगा जिसमें समस्त भारतवर्ष के निवासी सुगमता से अपने विचारों को व्यक्त कर सकेंगे। इस देश की मुख्य भाषाओं में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और संस्कृतमयी हिन्दी को ही सब प्रांतों के रहने वाले अपनायेंगे। रही समस्या उर्दू की। यह समस्या तो केवल संयुक्त-प्रांत और पंजाब की है और यहाँ भी शहरों तक ही सीमित है। देहातों में तो सबकी बोली एक ही है।

यद्यपि प्रारम्भिक काल में उर्दू इस देश की यथार्थ भाषा थी और उर्दू के आदि कवियों ने इस देश की संस्कृति को सुरक्षित करने का

प्रयास किया था, तथापि खेद के साथ कहना पड़ता है कि काल-क्रम से उर्दू केवल फारसी का एक अंग हो गई और उर्दू-साहित्य में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति की कहीं झलक नहीं आती है। फिर भी उर्दू को भी उन्नति करने का अधिकार है और इसकी गति को रोकना अनुचित है। हम इसकी समृद्धि चाहते हैं, हम चाहते हैं कि यह भी फूले-फले। उर्दू से हमें द्वेष नही है। किसी साहित्य-रसिक को किसी भाषा अथवा साहित्य से द्वेष नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तानी भद्दी उर्दू है—रही बात 'हिन्दुस्तानी' की। यह कौन भाषा है, कहाँ की है, किसकी है? इसका साहित्य कहाँ है? इस भाषा में कौन लिखता है? अर्थ-शास्त्र, राजनीति, विज्ञान, दर्शन, इत्यादि विषयों पर ग्रंथ किस भाषा में लिखे जाते हैं? हिन्दुस्तानी के गढ़ने का प्रयोजन क्या है? प्रचलित भाषाओं को विकृत करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? क्या हिन्दुस्तानी में भावुकता आ सकती है? क्या इसमें गूढ़ विषयों को व्यक्त करने की क्षमता है? हिन्दुस्तानी के जो थोड़े-से उदाहरण हम देख सके हैं उसको तो भद्दी उर्दू कहने में हमको संकोच नहीं है। उर्दू के वाक्य में हिन्दी के एक दो शब्द रख देना भाषा-शैली के साथ परिहास करना है। हिन्दुस्तानी आंदोलन से हिन्दी-संसार तो असन्तुष्ट ही है, उर्दू-जगत् भी प्रसन्न नही है। उचित यही है कि हिन्दी और उर्दू दोनों की गति अविरुद्ध रहे।

अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग—बहुधा देखा गया है कि हम यदि अंग्रेज़ से मिलते हैं तो अंग्रेजी में उससे बातें करते हैं, रावलपिण्डी के निवासी से मिलते हैं तो उर्दू में बातचीत करते हैं; परन्तु बंगाल, महाराष्ट्र अथवा गुजरात प्रान्त के रहने वालों से बंगाली मराठी अथवा गुजराती में बात नहीं करते हैं। अंग्रेज़ हमें 'गुड-मोर्निंग कहता है, उर्दू वाले 'सलाम वाले कुम' अथवा 'आदाबअर्ज़' कहते हैं, परन्तु हम उन्हें 'नमस्कार' या 'नमस्ते' कहते हिचकते हैं। हम 'पंडित साहब' कहे जाते है, पर हमें 'मौलवी जी' कहते संकोच

होता है। हमें अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग करते हुए आनन्द और गर्व होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो आपस की बातचीत हमे शुद्ध हिन्दी में करनी चाहिए। जिस प्रकार की खिचडी बोली का अभ्यास हमें लग गया है उसे छोडना चाहिए। पिछले दिनों से फ्राँस की एक महिला प्रयाग में हिन्दी के अध्ययन के लिए आई हुई थी। वह लड़कियों के छात्रावास में भारतीय लड़कियों के साथ रहती थी। हमारी लड़कियाँ जब एक दूसरे से बात करती थीं तो बहुत-से अनावश्यक अंग्रेज़ी शब्द व्यवहार में लाती थीं। इस फ्रेंच महिला को आश्चर्य होता था और इसका प्रभाव इतना अच्छा पडा कि वहाँ की अन्य भारतीय लडकियाँ शुद्ध भाषा बोलने का यत्न करने लगीं।

देवनागरी की विशेषता—इधर कुछ दिनों से हमें यह आदेश मिलने लगा है कि प्रत्येक विद्यार्थी को दो लिपियाँ सीखनी आवश्यक होनी चाहिएं—हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि। हिन्दी लिपि और उर्दू लिपि कोई लिपि नहीं है। नागरी लिपि और फारसी लिपि हैं। देश की और प्रधान लिपियाँ ये हैं—बंगला, गुजराती, गुरुमुखी, तामिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम। इनमें देवनागरी को ही प्रधानता है। फिर यदि नागरी के साथ और कोई लिपि भी सीख सकें तो अच्छा अवश्य है परन्तु हमारी लिपि वैज्ञानिक दृष्टि से इतनी शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से इतनी सरल है कि इसका त्याग हमारे लिए अनावश्यक है, अहितकर और असम्भव है। प्रत्येक प्रान्त में नागरी और फारसी दोनों लिपियों को अनिवार्य बनाना बच्चे पर बहुत बड़ा बोझ डालना है। देवनागरी की विशिष्टता यह है कि जैसी यह लिखी जाती है वैसा ही उच्चारण होता है। यह विशेषता न रोमन में है, और न फारसी मे।

: ६ :

# राष्ट्र-भाषा हिन्दी

( श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर )

यह राष्ट्रीयता का युग है—वह राष्ट्रीयता जिसके बिना कोई देश, कोई जाति, कोई कौम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना उचित पद पा ही नहीं सकती। राष्ट्रीयता की एक शर्त यह है कि उसकी एक भाषा हो। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्र-भाषा सबकी मातृ-भाषा हो। राष्ट्र के अवयवभूत लोगों में बहुजन उसे समझें और उसके द्वारा शासन, व्यापार आदि कार्य करें तो वह राष्ट्र-भाषा हो सकती है। मातृ-भाषा भी राष्ट्र-भाषा होती है पर वह राष्ट्र छोटे होते हैं तथा उसके अवयव-भूत सब लोग वही भाषा घर में भी बोलते हैं। भारत अति विशाल देश है तथा इसमें संस्कृत से सम्बद्ध अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। इनके सिवा अनेक अनार्य भाषाएं भी बहुसंख्यक लोगों की मातृ-भाषाएँ हैं। अत. यहाँ की राष्ट्र-भाषा किसी एक समूह की मातृ-भाषा नहीं हो सकती बल्कि वही भाषा राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमाचल से कन्याकुमारी तक सर्वत्र अल्पाधिक परिमाण में बोली या समझी जाती और अल्प-आयास में सीखी जा सकती हो। वह भाषा हिन्दी ही है और हिन्दी ही हो सकती है। मैं हिन्दी उर्दू के मूल-सम्बन्धी झगडे में यहाँ पड़ना नहीं चाहता, पर इतना कहूँगा कि उर्दू के भी आधार भूत (बेसिक) शब्द जिस भाषा के हैं वह भाषा

हिन्दी है। हिन्दी नाम उस भाषा का तब पड़ा था जब उर्दू नाम की कल्पना भी नहीं हुई थी। हिन्दुस्तानी नाम तो हाल का है और इसका प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता रहा है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा कहते हैं—"उन लोगों का मतलब हिन्दुस्तानी से उस ज़बान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्त प्रदेश और अन्तर्वेद (दोआब) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहने वाले मुसलमान बोलते थे; और जो दक्षिण के मुसलमानों में भी प्रचलित हो गई थी। जो मतलब इस समय आम तौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुराद इस हिन्दुस्तानी से थी—अर्थात् हिन्दी भाषा का वह रूप जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों।"* आजकल भी हिन्दुस्तानी से हमारे उर्दू-प्रेमी भाई उर्दू ही समझते हैं और इसमें से चुन-चुनकर संस्कृत के तत्सम शब्द और अधिक-से-अधिक तद्भव शब्द भी निकाल डालने पर तुले हुए हैं। यह प्रवृत्ति यदि केवल हिन्दी-द्वेषियों और अरबी-फारसी के प्रेमियों में ही पाई जाती तो हम इसका विरोध न करते पर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के प्रमाण-पत्र के साथ जिस भाषा का प्रचार राष्ट्र-भाषा के रूप में किया जाने लगा है उसमें से भी हिन्दी प्रचलित शब्द निकाले जाने और अरबी के चलाये जाने लगे हैं। हाल में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा द्वारा मद्रास में 'हिन्दुस्तानी की पहली किताब' प्रकाशित हुई है। पुस्तक के आरंभ में मद्रास प्रान्त के प्रधानमंत्री के नाम लिखा हुआ मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद का अंग्रेजी पत्र छपा है जिसमें आप फर्माते हैं कि इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह वास्तव में उस भाषा का नमूना है जिसे सर्व प्रान्तीय भाषा बनने का स्वाभाविक

---

* 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी० द्वारा इलाहाबाद से प्रकाशित; पृ० २६-३०।

अधिकार है। मौलाना अबुलकलाम आज़ाद जिसे सर्वप्रान्तीय या राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझते हैं वही यदि 'हिन्दुस्तानी' है, तो मैं निःसन्दिग्ध चित्त से साहित्य-सम्मेलन को सलाह दूँगा कि निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में वह इसका विरोध करे। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के वैशाख संवत् १९९९ के अंक में मेरे मित्र श्री रामचन्द्र वर्मा ने बड़ी योग्यता के साथ इसकी समीक्षा की है और मैं इसका समर्थन करता हूँ। वर्माजी कहते हैं—"इस पुस्तक में हिन्दी भाषा के शब्द अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं और अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है। उदाहरणार्थ, पुस्तक के सातवें पृष्ठ पर अकरम, ज़मज़म, अज़ामत आदि अरबी के ऐसे विकट शब्द आये हैं जिनका मतलब शायद मद्रास के बड़े-बड़े मुल्ला भी न समझते होंगे। और इसी तरह के शब्दों से युक्त हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में पुस्तक के आरम्भ में 'बच्चों से' कहा गया है—"यह हमारे देश के करोड़ों आदमियों की ज़बान है और थोड़े दिनों में देश के सारे लोग इसे समझेंगे।' ·······इससे आपस का मेल-जोल और बढ़ेगा।" अरबी और फारसी के मुश्किल-से-मुश्किल शब्द तो इसमें बिलकुल शुद्ध रूप में रखे गए हैं, लेकिन संस्कृत के सीधे-सादे 'अमृत' शब्द के भी हाथ पैर तोड़कर उसे 'अमरत' बना दिया है। पृ० २७ में आया है—"रामदास ने भी दादी से कहा—दादी-जी, नमस्ते।" यह है भाषा के नाम पर संस्कृति की हत्या। केवल शब्द ही नहीं, इस पुस्तक के वाक्यों की रचना भी उर्दू है, हिन्दी नहीं और इसको प्रकाशित किया है दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा ने! मेरा खयाल है कि सभा इस मामले में राजनीतिक दबाव में पड़ गई है। हिन्दुस्तानी नाम की जिस भाषा का प्रचार मद्रास-सरकार अपने स्कूलों में करने जा रही है उसके सम्बन्ध में उर्दू के अभिमानियों को सन्तुष्ट रखना ही प्रचारकों का मुख्य उद्देश्य मालूम होता है। एक क्षुद्र कांग्रेसजन के ही नाते मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़

गई है और इसका परिणाम बुरा हो रहा है। जिनके लिए भाषा के साथ-साथ, श्री रामचन्द्र वर्मा के कथनानुसार, संस्कृति की भी हत्या की जा रही है वे तो कांग्रेस की ओर आते ही नहीं, उलटे उनके हृदय को चोट पहुँचने लगी है जिनके कारण कांग्रेस का कांग्रेसत्व है। साहित्य-सम्मेलन को चाहिए कि कांग्रेस के कर्णधारों का ध्यान इस ओर दिलाकर राष्ट्र-भाषा के नाम होने वाले इस अकाण्ड-ताण्डव को समय रहते रोकने की प्रार्थना नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ करे।

हिन्दुस्तानी के नाम पर यह जो अनर्थ हो रहा है उससे केवल हिन्दी की ही नहीं; बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए भी मैं कहता हूँ कि हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी यानी हिन्दी की होनी चाहिए। शब्दों के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। संस्कृत तथा विदेशों की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं से जितने अधिक शब्द हिन्दी में आयंगे उतनी ही उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी और भिन्न-भिन्न भावों के प्रकट करने में उतनी ही अधिक सरलता होगी। जिस भाव या वस्तु का द्योतक शब्द हिन्दी में है उसी के पर्यायवाची अन्य शब्दों के लेने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि प्रथम-प्रथम जो शब्द केवल पर्यायवाची होते हैं वे ही अच्छे लेखकों के हाथ में पड़कर एक ही भाव के कई सूक्ष्म भेदों के व्यंजक हो जाते हैं और इससे भाषा का सौन्दर्य और बल बढ़ाते हैं। पर इनका प्रयोग सावधानी के साथ करना चाहिए। संस्कृत तत्सम संज्ञा का विशेषण अरबी तत्सम शब्द हो तो वह कर्ण-कटु होता है, भाषा साहित्य से कोसों दूर भाग जाती है। उदाहरणार्थ 'अनुकरणीय वफादारी' ही लीजिये। कितना कर्णकटु लगता है! इसका अर्थ यह नहीं कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द एक साथ आने से ही भाषा कर्णकटु हो जाती है। अच्छे कवि और माली कहाँ-कहाँ से शब्द और फूल लाकर सुन्दर गुलदस्ता बना देते हैं जो देखते ही बनता है। उदाहरणार्थ, उर्दू के आदि कवि वली के शेर लीजिये—

तुझ इश्क़ में जल-जलकर सब तन को किया काजल,
यह रोशनी-अफजा है अँखियन को लगाती जा।
तुझ इश्क मे दिल चलकर जोगी का लिया सूरत,
यक बार अरे मोहन छाती सों लगाती जा।
तुझ घर के तरफ सुन्दर आना है वली दायम,
मुश्ताक़ है दर्शन का टुक दरस दिखाती जा।

इन शेरों में संस्कृत और अरबी तत्सम और तद्भव शब्दों का कैसा सुन्दर मेल है। यह उस समय की भाषा है जब भारतीय और विदेशी शब्द एक दूसरे से मिलकर हमारी मातृ-भाषा का भण्डार और सौंदर्य बढ़ाने लगे थे। यदि उर्दू के कवि और खासकर मुसलमान कवि केवल शब्द बाहर से लाकर ही संतुष्ट होकर भारतीय भावों की रक्षा करते होते तो निश्चय ही वे ऐसी भाषा तैयार करने में समर्थ होते जो वास्तविक अर्थ में राष्ट्र-भाषा बन जाती और उत्तर भारत मे साहित्य की एक ही भाषा रहती। पर पहले तो मुसलमान कवियों के फारसी लिपि को ग्रहण करने से उनकी हिन्दुस्तानी या उर्दू अपनी आधारभूत हिन्दी से दूर-दूर जाने लगी। इस पर उन्होंने जब अपने लिए व्याकरण और छन्द भी विदेश से मँगाये और उपनाम भी अरब फारस से आने लगे तब इन दोनों के बीच का अन्तर धीरे-धीरे बढ़ने लगा, यहाँ तक कि अब हिन्दी और उर्दू बिलकुल भिन्न भाषाएं समझी जाने लगी हैं। हमारे मुस्लिम कवियों को भारत की कोकिल न भाई, फारस के चमनिस्तान से बुलबुल को लाकर हमारे-आपके वृक्षों पर बैठा दिया। उन्हें उपमा के लिए इस देश के अगाध-साहित्य में उपमान न मिले। यद्यपि दोनों गैरमुस्लिम थे पर उन्हें सुकरात और अफलातून का अभिमान हुआ, कपिल, व्यास की ओर से मुँह मोड लिया। परिणाम जो होना था, वही हुआ। क्या शब्दों में और क्या भावों में उर्दू-साहित्य बहिर्मुख हो गया। यद्यपि कुछ मुस्लिम कवियों ने भारतीय बनने का यत्न किया और आज वह प्रवृत्ति यत्र-तत्र बढ़ती दिखाई देती

है फिर भी मुझे अपने उर्दूदाँ मित्रों से यही मालूम हुआ है कि उर्दू-प्रवाह केवल बहिर्मुख ही नहीं उसका उद्गम भी अब विदेशी मालूम हो रहा है। जिसके साहित्य की आत्मा और दृष्टि ही अपनी न हो वह कैसे राष्ट्र-भाषा बन सकेगी, इसका विचार विद्वज्जन ही करें।

अन्य भाषाओं में से शब्द लेने में कोई आपत्ति नहीं वरंच लेने चाहिएं। पर इसके साथ एक शर्त है। शब्द मूलतः चाहे जिस भाषा के हों, पर जब हम लें तो उन्हें अपना-सा बनाकर लें। अर्थात् उनकी ध्वनि हमारी भाषा की ध्वनि से मिलती-जुलती हो। मूल ध्वनि की रक्षा करने का यत्न केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है। यह बात केवल अरबी-फारसी के ही नहीं संस्कृत के शब्दों में भी है, हाँ, संस्कृत-शब्दों का उच्चारण हिन्दी भाषा बोलने वालों के वाग्यंत्र के लिए प्रायः स्वाभाविक होने के कारण उनमें हिन्दी हो जाने पर भी अधिक परिवर्तन नहीं होता और अरबी-फारसी के शब्दों में होता है। पर यह अनिवार्य है। अगर शब्दो का उच्चारण मूल में जैसा है वैसा ही बनाये रखने का यत्न करने से वे कभी हमारे न होंगे। भाषा उनको हजम न कर सकेगी, भाषा को उनसे बदहज़मी हो जायगी। इन्हीं शब्दों के सम्बन्ध में दूसरी शर्त यह है कि ये हमारे व्याकरण के शासन में आ जाय। हम शब्द अन्य भाषाओं से ले सकते है पर उनके लिंग और वचन सम्बन्धी रूपान्तर हमें उस भाषा के व्याकरण के अनुसार न बनाने चाहिएं जिससे वे आये हों। शब्दों को भावान्तरित होने के साथ-साथ व्याकरणान्तरित भी होना ही चाहिए। अंग्रेजी में हिन्दी से अनेक शब्द गये हैं, जैसे जंगल, पण्डित आदि। इनके बहु वचन अंग्रेज़ी भाषा के नियमों के अनुसार जंगल्स, पंडित्स आदि होते हैं। हिन्दी संस्कृत के नियम लागू नहीं होते। हिन्दी में भी हम संस्कृत से शब्द लेते हैं पर उनके रूपान्तर अपने ढंग से बना लेते हैं। उदाहरणार्थ 'पुस्तक' शब्द संस्कृत है और वहाँ उसका बहु वचन पुस्तकानि होता है, पर उसके हिन्दी हो जाने पर बहु वचन हिन्दी व्याकरण के अनुसार

पुस्तकें होता है ,न कि पुस्तकानि। यह नियम अंग्रेजी, अरबी-फारसी के शब्दों में भी लागू होना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमने 'फुट' शब्द को अंग्रेजी से लिया है। इसकी आवश्यकता भी थी। पर इसका बहु वचन भी वहाँ से लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने व्याकरण के नियमानुसार प्रथमा में फुट का बहु वचन फुट ही होता है और हमें दो फुट, तीन फुट आदि ही लिखना चाहिए, न कि दो फीट, तीन फीट आदि। स्कूलों में पढाई जाने वाली गणित की पुस्तकों में 'फीट' देखकर मुझे तो 'फिट' आता है। 'साहब' हमने अरबी से लिया है और यह नित्य की बोल-चाल में भी आता है पर इसका बहु वचन 'असहाब' करना उसे हिन्दी न होने देना और हिन्दी को संग्रहणी का का शिकार बनाना है। 'स्टेशन' 'इस्टेशन' बनकर अथवा अपने मूल रूप में, हिन्दी उर्दू में आया है। पर इसका बहु वचन 'स्टेशन्स' हमने नहीं लिया है। हम कहते हैं, 'राह में हमने कई बडे-बड़े स्टेशन देखे' न कि 'स्टेशन्स' देखे। इतने उदाहरण काफी हैं। तात्पर्य कहने का इतना ही है कि बाहर से शब्द मंगाइये पर उन्हें अपना लीजिये—अपने व्याकरण के शासन में लाइये।

बाहर के सब शब्दों का स्वागत करने वाली हिन्दी ही हमारी राष्ट्र-भाषा हो सकती है और स्वभावतः है। हिन्दी का अर्थ है हिन्द की भाषा। 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' किसी ज़माने में हिन्दू की भाषा समझी जाती रही होगी पर आज हमारी हिन्दी हिन्द की भाषा है। इसका कोई प्रांतीय नाम नहीं है, यही इस बात का प्रमाण है कि वह सारे देश की—हिन्द की भाषा है। मराठी, गुजराती, बंगला, तामिल, तेलगू आदि भाषाएँ प्रान्तीय भाषाएं हैं जो उनके नाम से ही ध्वनित होता है। पर हिन्दी सारे देश की भाषा है। इसका आधुनिक साहित्य अनेक प्रांतीय भाषाओं की तुलना में छोटा होने पर भी वह राष्ट्र की छोटी-सी, परन्तु बहुमूल्य सम्पत्ति है, उसकी अपनी भाषा है। इसमें प्रान्तीय अभिमान बिलकुल नहीं है, जो बात अन्य भाषाओं के सम्बन्ध

में नहीं कही जा सकती। प्रांतीय अभिमान के अभाव के साथ-साथ इसमें अन्य प्रान्तों के सम्बन्ध में अवज्ञा-सूचक कोई शब्द भी नहीं है, यह भी इसकी राष्ट्रीयता का एक प्रमाण है। इसके लेखकों का लक्ष्य हिन्द होता है, कोई प्रांत विशेष नहीं। बंगाली 'बंग आमार, आमार देश' गा सकते हैं, 'महाराष्ट्र देश अमुचा' कहकर महाराष्ट्रवासी फूले अंग नहीं समाते हैं, पर हिन्दी जिनकी मातृ-भाषा है उनके लिए तो 'भारत हमारा देश है' हिन्दी राष्ट्र के लिए, राष्ट्र के मुँह से बोलती है क्योंकि वह राष्ट्र की भाषा है और हमारी मातृ-भाषा भी।

राष्ट्र-भाषा और मातृ-भाषा में भेद—राष्ट्र-भाषा और मातृ-भाषा में भेद है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ मातृ-भाषा हो सकती है, पर यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्र-भाषा मातृ-भाषा ही हो। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा बनने का यह अर्थ नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, कि अन्य भाषा-भाषी सज्जन अपनी मातृ-भाषाओं का त्याग करके हिन्दी को अपनायं। राष्ट्रीयता का अनुरोध तो केवल इतना ही है कि सारे राष्ट्र की एक भाषा हो जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सज्जन परस्पर सम्बन्ध स्थापित करें, विचारों का आदान-प्रदान करें तथा सब सर्वप्रान्तीय कार्य इसी के द्वारा करें। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना कॉंग्रेस ने इसीलिए स्वीकार किया है कि सारे राष्ट्र की एक सामान्य भाषा हुए बिना राष्ट्र फूलने-फलने नही पाता। स्वतन्त्रता का फल नहीं पा सकता, मानव-उन्नति के कार्य में वह भाग नहीं ले सकता जो उसका अपना कर्त्तव्य है। अतः यदि हम एक राष्ट्र होना चाहते है, संसार में अपना गौरव-मण्डित पद ग्रहण करना चाहते हैं तो हमारा—भारत-सन्तान-मात्र का—कर्त्तव्य है कि वह हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में यथाशक्ति सहयोग करे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का तो इस सम्बन्ध में अधिकतर महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। जहाँ उसे यह देखना है कि राष्ट्र-भाषा के नाम हिन्दी की और

हिन्दी संस्कृति की हत्या न की जाय वहाँ उसे हिन्दी का साहित्य-भण्डार उत्तमोत्तम रत्नों से भरने का यत्न भी करना है।

मद्रास प्रान्त में आज हिन्दी का प्रचार जितना हुआ है उसकी कल्पना करना भी दो दशक पूर्व असम्भव था। इस सफलता का श्रेय महात्मा गांधी को सबसे अधिक है। यदि इस कार्य को उनके महान् व्यक्तित्व का सहारा न मिला होता तो यह इतना सफल कदापि न होता।

इस लेख को समाप्त करने के पहले मैं एक और महत्त्व के विषय की ओर आपका ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हूँ। वह है हिन्दी शब्दों के लिंगों की गड़बड़। मैं जानता हूँ कि इन बातों पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। 'प्रयोगशरणाः वैयाकरणाः' यह हमारे प्राचीन विद्वानों का मत है और सच है। फिर भी इधर ध्यान देने की आवश्यकता इसलिए उत्पन्न होती है कि हिन्दी भाषा केवल उसे बोलने वालों की सम्पत्ति नहीं है। यह राष्ट्र-भाषा है और राष्ट्र के हित के लिए इसे यथासाध्य सुलभ करना हमारा कर्त्तव्य है। इस ओर सम्मेलन ध्यान दे भी चुका है। दिल्ली-सम्मेलन में "हिन्दी भाषा की राष्ट्रीयता तथा उसके प्रचार की दृष्टि से हिन्दी शब्दों के लिंग-भेद का यथासम्भव नियंत्रण करने के हेतु उचित मार्ग उपस्थित करने के लिए" एक समिति नियुक्त की गई थी और नागपुर-सम्मेलन में इसमें दो सज्जनों के नाम और जोड़ दिये और श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन इसके संयोजक बनाये गए। समिति की ओर से संयोजक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने उन दिनों अपनी रिपोर्ट स्थायी समिति में उपस्थित की थी। उस समिति ने यह प्रस्ताव उस वर्ष के सम्मेलन में उपस्थित किया कि—'अस्थायी रूप से यह तीन सिद्धान्त माने जायं। (क) जीवधारियों के लिए प्रयुक्त जिन शब्दों से लिंग स्पष्ट है उन शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार हो। (ख) निर्जीव पदार्थों तथा छोटे पशु-पक्षियों और कीड़ों के सम्बन्ध में शब्दों की आकृति पर लिंग-निर्णय किया जाय और इसके लिए

भाषा के वर्त्तमान स्वरूप का ध्यान रखकर निश्चित नियम बनाये जायं। (ग) फुटकर शब्दों के लिए अपवाद न रखे जायं; किसी नियम का अपवाद भी कोई नियम ही हो जो सामूहिक रीति से कुछ शब्दों में लागू हो।' इस पर निश्चय हुआ कि 'सम्मेलन स्थायी समिति की सिफारिशों को अस्थायी रूप से स्वीकार करता है और स्थायी समिति को अधिकार देता है कि वह लिंग के विषय में सम्मेलन की ओर से अन्तिम निर्णय करे।' मुझे इस सम्बन्ध में यही निवेदन करना है कि यह प्रयत्न स्तुत्य है। इसकी सफलता पर राष्ट्र-भाषा का प्रचार बहुत-कुछ निर्भर है। साधारणतया, जहाँ जाति से लिंग स्पष्ट नहीं होता, शब्दों के अन्त्य और उपान्त्य स्वरों और प्रत्ययों से लिंग निर्द्धारित होता है। कुछ अपवाद अवश्य हैं पर यदि वे सामूहिक न हों और किसी मे उपनियम न आ सकते हों तो उनका लिंग साधारण नियम के अनुसार निर्द्धारित करना अथवा उन्हें उभय लिंगी मान लेना अनुचित न होगा। ऐसा करने से अन्य भाषा-भाषी लोगों के लिए हिन्दी सीखना सहज हो जायगा। अवश्य ही इस सम्बन्ध में धीरे-धीरे अग्रसर होना चाहिए क्योंकि जीवित भाषा बहती नदी है जिसकी धारा नित्य एक ही मार्ग से प्रवाहित नहीं होती।

◆

: १० :

# व्यापक भाषा की आवश्यकता

( डाक्टर भगवानदास )

ज्ञान के प्रचार के वास्ते बोली आवश्यक है। अन्य इन्द्रियाँ होते हुए भी, मनुष्य का परस्पर बुद्धि-संक्रमण, श्रवणेन्द्रिय और वागिन्द्रिय द्वारा ही होता है। तुलसीदास जी ने कहा है, "गिरा अनयन, नयन बिनु बानी, स्याम गौर किमि कहौं बखानी।" मौलाना रूम, इनसे पहले कह चुके हैं, "महूमे ईं होश जुज़् बेहोश नीस्त, मर ज़बां रा मुस्तरी जुज़ गोश नीस्त," ज़बान के सौदे का ख़रीदार कान के सिवा दूसरा नहीं। इस होश, इस ज्ञान का महूम, रहस्य-वेदी, इसके मर्म को पहचानने वाला, सिवा 'बेहोश', 'अनजान', 'ज्ञानातीत' के दूसरा नहीं है। इसी से वेद का नाम श्रुति है, परम्परा से सुनी हुई पुरानी बात। तो उत्तम ज्ञान के देश-भर में व्यापक प्रचार के लिए एक व्यापक बोली आवश्यक है; तथा शिक्षक, शिष्य, और शिक्षा के लिए स्थान आदि भी आवश्यक हैं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य साहित्य-सम्मेलन का है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो भारतवर्ष की व्यापक भाषा कही जा सकती है। लोकमान्य तिलक ने महाराष्ट्र प्रान्त का शरीर रखते हुए भी, इस बात को स्वीकार किया, और सन् १९२० ई० में काशी में हिन्दी में भाषण दिया था। महात्मा गांधी ने, गुजरात प्रान्त का शरीर धारण

करते हुए भी, इस बात पर सत्य आग्रह किया है कि हिन्दी ही समग्र भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा है और होनी चाहिए, और जिस-जिस प्रान्त मे इसका प्रचार अभी कुछ कम है वहाँ अधिक होनी चाहिए। स्वयं वे प्रायः सरल हिन्दी ही में अपने प्रभावशाली सारमय हृदयग्राही व्याख्यान देते थे। बंग देश के भी कई विद्वान् और अग्रणी इसको मान चुके हैं। दूसरे देश के भी जो निष्पक्षपात निःस्वार्थी विद्वान् हैं वे भी इसको मानते हैं। और गत सम्मेलनों में यह बात बड़े पाण्डित्य-पूर्ण सद्युक्तिमय व्याख्यानों से सिद्ध की गई है। अब इस पर अधिक कहना निष्प्रयोजन है।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी—हाँ, 'हिन्दी' शब्द में कुछ सन्देह हो गया है। इधर हिन्दी-उर्दू का विवाद कुछ दिनों तक जो चला, उसके कारण मुसलमान धर्म वाले, 'हिन्द' में रहने वाले, अतः 'हिन्दी', हमारे भाइयों को इस शब्द से कुछ शंका हो गई। गो कि वह हुज्जत हिन्दी-उर्दू ज़बानों की नहीं थी, बल्कि नागरी-फ़ारसी हरफ़ों की थी, तो भी इस शक और हुज्जत को मिटाने के लिए इधर कई मुअज्ज़िज़ पेशवाओं की सलाह यह है कि 'हिन्दी' लफ़्ज़ की जगह 'हिन्दुस्तानी' लफ़्ज़ का इस्तैमाल किया जाय।

यह भी अच्छा है। मेरा निवेदन केवल यह है कि जो ही अर्थ हिन्दुस्तानी का है वही हिन्दी का है, और हिन्दी शब्द छोटा और बहुत दिनो से वर्ताव मे है और सुविधा का है।

इस देश का नाम जैसे 'हिन्दुस्तान' है, वैसे ही 'हिन्द' है। बल्कि अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस, अरब, रूम, मिस्र आदि इस्लाम धर्म मानने वाले देशों में 'हिन्द' ही मशहूर है, और हिन्दुस्तानी क़ौमें, यानी हिन्द के रहने वाले, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सब 'हिन्दी' के ही नाम से पुकारे जाते हैं, 'हिन्दुस्तानी' नहीं।

यों ही, पश्चिम और पूर्व के देश, यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान आदि में; 'इण्डिया' शब्द प्रसिद्ध है, जो 'हिन्द' शब्द का केवल रूपांतर है। और जैसे पंजाब प्रान्त का बसने वाला और उसकी बोली पंजाबी, बङ्गाल की बङ्गाली, गुजरात की गुजराती, फ़ारस की फ़ारसी, बनारस की बनारसी, शीराज़ की शीराज़ी, रूम की रूमी, मिस्र की मिस्री, फ़रासीस या फ्रान्स देश की फ़रासीसी या फ़िरिंगी, इस चाल से हिन्द देश का रहने वाला 'हिन्दी', चाहे वह किसी धर्म का मानने वाला हो और किसी अवान्तर जाति का हो, और उसकी बोली भी समान्यतः 'हिन्दी' ही, चाहे उसका विशेष भेद बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिंधी आदि कुछ भी हो। 'सिन्धु' नदी, 'सिन्धु' देश, ये नाम वैदिक और पौराणिक काल से चले आते हैं। सिन्धु देश में बसने वाली जातियाँ 'सैन्धव' कहलाती थीं। प्राचीन 'ईरानी' (पारस देश में बसी हुई 'आर्य') जातियों की बोली 'ज़िन्द' ('छन्द') भाषा में, इन शब्दों का रूप 'हिन्ध' और 'हैन्धव' हो गया। तथा 'यूनानी', ('ऐयोनिया' देश में बसने वाली 'ऐयोनियन'), 'यवन', ग्रीक, जातियों की भाषा में 'इण्डस', 'इण्डिया', 'इण्डियन' आदि हो गया।

हिन्द और हिन्दू शब्दों के विषय में पिछले सम्मेलनों में बहुत शंका-समाधान हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग, तिरस्कारक अर्थों में, परदेशियों ने किया है, इसलिए इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिए, 'भारत', और 'भारतीय' ही कहना चाहिए, इत्यादि। पर "योगाद् रूढिर्बलीयसी", यह सिद्धान्त है। अति प्राचीन वैदिक भाषा में 'असुर' शब्द का वह अर्थ था जो अब 'सुर' का है, "असून् राति इति", प्राण देने बढ़ाने वाले, और सुर का वह अर्थ था जो अब 'असुर का, पर ऐसा बदल गया कि अब उसमें शंका का स्थान ही नहीं है। ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी में जो 'तीता' और 'कड़ुवा' ये दो शब्द हैं, इनके मूल संस्कृत के दो शब्द तिक्त' और 'कटु' हैं। पर अर्थ बिलकुल उल्टा है, "निम्बं तिक्तं", नीम कड़वी है, और "मरिचं

कटु", मिर्च तीती है। तो "योगाद् रूढ़िर्बलीयसी", अब तो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिसको हिन्द के पैंतीस-चालीस करोड़ 'हिन्दियों' में से पचीस-तीस करोड़ किसी-न-किसी प्रकार से समझ लेते हैं, और साधारण कामों के लिए बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इसके, 'भारत' और 'भारतीय' को भुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय-समय पर होते रहना ही चाहिए।*

इस सम्बन्ध में काशी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा यहाँ करना चाहता हूँ। कई मानी में सारे हिन्द का संक्षेप रूप काशी है। लाहोरी टोला में पंजाबियों की बस्ती, बंगाली टोला में बङ्गालियों की, केदार घाट, हनुमान घाट पर तामिल-तेलंगों की, दुर्गाघाट पंचगंगा पर महाराष्ट्रों की, चौखम्भा में गुजरातियों की, घाट-बाट पर विशेष-विशेष राज-रियासतों के आदमियों की, मदनपुरा अलईपुरा में मुसलमान भाइयों की, और सिक्रौल में ईसाई भाइयों की आबादी है। इनकी

---

* १९४१ ई० की मनुष्य गणना से, भारत की जन-संख्या, ३८ कोटि हो गई; और प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। किन्तु पाकिस्तान बनने के बाद अब भी इतनी ही जनसंख्या समझें तदनुसार, विविध भाषा-भाषियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। यदि बर्मा देश की भी आबादी जोड़ी जाय तो प्रायः डेढ़ कोटि संख्या और बढ़ जाय। २३३,००० वर्ग मील का यह देश, १८५२ ई० तक स्वतंत्र राष्ट्र रहा; उस वर्ष, अंग्रेजों ने, इसके दक्षिणार्ध पर कब्ज़ा कर लिया, और १८८५ में राजा को क़ैद करके उत्तरार्ध पर भी। पहले, बर्मा को भी भारत का एक प्रान्त, अंग्रेज़ी गवर्मेंट ने बनाया; पर १९३५ से, 'राज-नीतियों' के कारण, इसके शासन प्रबन्ध को भारतीय प्रबन्ध से अलग कर दिया है।

रिश्तेदारियाँ चारों ओर हिन्द-भर में हैं और होती रहती हैं। ये सब, इनकी बहू-बेटियाँ तक, बनारसी हिन्दी अच्छी तरह बोलती समझती हैं, चाहे अपने अपने ख़ास प्रान्त की बोली कम भी जानें। इस देश के सब तीर्थों और विद्यापीठों में सबसे पुराना तीर्थ और विद्यापीठ भी काशी है। उपनिषदों में काशी के आचार्यों की चर्चा है। काशी के राजा दिवोदास ने वैद्यक का जीर्णोद्धार किया, जो अब सुश्रुत संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष के जो पुराने विद्यापीठ, सप्त पवित्र पुरी के नाम से प्रसिद्ध थे, उनमें अन्य सब शिथिल-प्राय हैं, पर काशी अभी भी दो तीन सहस्र विद्यार्थियों को पुरानी रीति से भोजन-आच्छादन और शास्त्र-ज्ञान दे रही है। "ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः।" यह भी शास्त्र का वाक्य है। "काश्यां मरणात् मुक्तिः" यह भी। तथा "अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका, पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः मोक्षदायिकाः" यह भी। इन वाक्यों का समन्वय कैसे हो? तो यों ही, कि ये सब स्थान पुरानी 'यूनिवर्सिटी', विद्यापीठ, साहित्य-केन्द्र थे, ज्ञानी महात्मा सच्चे साधुजन यहाँ रहते थे, उनके संसर्ग से मंद बुद्धि वालों के हृदय में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता था, और तब उस ज्ञान के द्वारा उनको मोक्ष मिलता था।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवाः मृच्छिलामयाः,
ते पुनंतिउरुकालेन दर्शनाद् एव साधवः। (भागवत)
तत्रात् आवासतु तीर्थानि, सर्वभूतहितैषिणः,
निधयो ज्ञानतपसां, तीर्थीकुर्वन्ति साधवः।
परिगुहान् (त्) मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।(काशीखंड)

पर यह सब बात अब कथा शेष रह गई है। काशी में भी जो संस्कृत विद्या के प्रचार का प्रकार अब बाकी रह गया है उसके बहुत संशोधन की आवश्यकता है। अब तो उससे न इह-लोक में न पर-लोक में कुछ फल दिखाई देता है।

हाँ, उस प्राचीन विद्या के केन्द्र की, जो अब भी हिन्द का केन्द्र

है, प्रचलित बोली हिन्दी में, उत्तम साहित्य का संग्रह और प्रचार हो, तो पूरी आशा है कि सर्वाङ्गीण जाग ठीक-ठीक हो जाय, और शिक्षा, रक्षा, जीविका आदि सब कार्यों में सफलता, स्वतंत्र और स्वाधीन रूप से हो। जिनकी एक बोली, उनका एक मन। यदि देश के सब निवासियों का एक मन हो जाय, तो कौन-सी इष्ट वस्तु है जो इनको न मिल सके।

एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द—इसलिए इस बोली का जितना अधिक प्रचार हो उतना ही अच्छा है मुझे इसका बहुत खेद है कि दिवंगत ( कलकत्ता हाई-कोर्ट के भूतपूर्व जज ) श्री शारदाचरण मित्र ने, जो 'एकलिपिविस्तारपरिषत्' स्थापित की थी, और उसकी जो त्रैमासिक पत्रिका निकाली थी, वह दोनों शान्त हो गईं, और इस ओर पुनर्वार प्रयत्न नहीं किया गया।*

यह प्रायः निर्विवाद है कि जैसे नागरी अक्षरावली, वैसे नागरी लिपि भी, अन्य सब वर्णमालाओं और लिपियों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय 'सायन्टिफिक्', सम्पूर्ण, अभ्रान्त, और सब बोलियों के लिखने में समर्थ है। यदि पाँच-सात आवाजें अरबी और अङ्गरेजी की ऐसी हैं जिनके लिए संस्कृत अक्षरावली और लिपि में प्रबंध नहीं है, तो वे सहल में, स्वरवर्ग और व्यञ्जनवर्ग में, स्थान और प्रयत्न के अनुसार, बढ़ा ली जा सकती हैं, और अब वर्त्ती जाने भी लगी हैं। जैसे स्वर-वर्ग में अरबी अ, अङ्गरेजी (तथा बंगला) ऍ और ऑ। कवर्ग में क़ और ग़, चवर्ग में ज़, पवर्ग में फ़, जिन के पुराने नाम जिह्वामूलीय और उपध्मानीय हैं। इत्यादि।

---

* श्री प्रेमचन्द और श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने 'हंस' नामक मासिक पत्र में इस प्रकार का कार्य फिर आरंभ किया था; पर खेद है कि श्री प्रेमचन्द जी के देहावसान से वह काम, थोड़े ही समय बाद, बन्द हो गया।

मुझे अपना अनुभव यह है कि जब तक एकलिपिविस्तारपरिषत् की पत्रिका निकलती थी, मैं उसे नियम से पढा करता था और नागरी अक्षरों में छपे हुए उसके बंगला, मराठी, गुजराती लेख भी प्रायः सब समझ जाता था। हाँ तेलगू, तामिल लेख तो नहीं समझ पडते थे। पर उसमें भी कहीं-कही पुराने संस्कृत शब्द पहचान पड जाते थे। उर्दू का तो कहना ही क्या है। यह तो सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी उर्दू में इतना भी भेद नहीं है जितना हिन्दी-बंगला या हिन्दी-गुजराती या हिन्दी-मराठी में है। क्रियापद उर्दू में प्रायः सब ही हिन्दी के अर्थात् संस्कृत प्राकृत के है। आना, जाना, खाना, पीना, देखना, सुनना, सोना, जागना, जानना, बूझना, समझना, चलना, फिरना, इत्यादि! वाक्यों की बनावट हिन्दी की ऐसी ही होती है। विभक्ति-वाचक शब्द सब हिन्दी के हैं। संज्ञा-पद, संज्ञा-विशेषण, और क्रिया-विशेषण, फ़ारसी-अरबी के ज़्यादा प्रयोग करने से बोली उर्दू और संस्कृत के अधिक होने से हिन्दी, कही जाती है। यह तो कुछ भी फ़रक नहीं है। संज्ञा-पद तो हमको सभी भाषाओं से, जो-जो ज़रूरी हों, लेना उचित ही है। बहुत-से अंग्रेजी के शब्द अब भी भाषा में ले लिये गए हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्द अगर कसरत से हिन्दी में लिये जायं, तो एक फायदा यह होगा कि अरब, फारस, मिस्र देश का सम्बन्ध इस अंश में बना रहेगा, जिससे 'एशियाटिक यूनिटी', और उसके बाद 'वर्ल्ड यूनिटी' में, सहायता मिलेगी। पर लिपि एक, नागरी, यदि सब प्रान्तों में बरती जाने लगे, तो प्रान्तीय भाषाओं का भेद रखते हुए भी एक दूसरे का अभिप्राय समझने में बहुत बडी सुविधा हो जाय। काशी का हाल तो मैं जानता हूँ कि, वहाँ के सब मुसलमान भाइयों की कोठियों में भी वही खाते एक प्रकार की नागरी अर्थात् महाजनी लिपि में ही लिखे जाते हैं। महाराष्ट्र भाषा के ग्रन्थ और पत्र सब नागरी लिपि में छपते हैं। और मेरी समझ में तो ऐसा आता है कि बंगला और गुजराती तथा उर्दू के अच्छे-अच्छे ग्रन्थ यदि

नागरी लिपि में छपें तो व्यापार-रोज़गार की दृष्टि से भी छापने वालों ही को बहुत लाभ होगा, क्योंकि हिन्दी के ही जानकार भी इनको, बिना अनुवाद के श्रम के, मूल शब्दों में ही पढ़कर, अधिकांश का अर्थ ग्रहण कर सकने के कारण, खरीदेंगे और इनका प्रचार, जो अब तत्तत्प्रांत की सीमा के भीतर संकुचित है, वह समग्र भारत में फैल जायगा। ग़ालिब और ज़ौक की कविताओं के छोटे संग्रह, जो नागरी में छपे हैं, उनकी अच्छी बिक्री है। परम प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी के भी पद्य नागरी अक्षरों में छपे हैं, और हज़ारो प्रतियाँ हाथों-हाथ बिकी है। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारने योग्य है। हिन्दी में जो संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अङ्गरेज़ी आदि के शब्द लिये जायं वे अपने शुद्ध रूप में बरते जायं, या हिन्दी की बोली के अनुसार उनकी शक्ल कुछ बदली जाय? कुछ सज्जनों का विचार है कि, एक देश को छोड़कर आदमी दूसरे देश में जा बसता है, और अपना पुराना पहरावा छोड़कर उस देश के पहरावे को धारण कर लेता है, तभी उस देश के आदमियों में मिल पाता है, नहीं तो विदेशी बना रहता है, इसलिए ऐसे शब्दों का रूप भी बदल लेना अच्छा होगा। दूसरे कहते हैं कि अगर शक्ल बदलनी शुरू हुई तो रोज़-रोज़ बदलती ही जायगी, कहीं स्थिरता न आयगी; और शब्दों की उत्पत्ति का स्थान भी भूल जायगा, और शायद अर्थ भी बदल जायगा। कहावत है कि—

दस बिगहा पर पानी बदलै, दस कोसन पर बानी

और संस्कृत प्राकृत का भेद मुख्यतः इसी कारण से है; संस्कृत के रूप के, विविध प्रान्तों में, विविध प्रकार से बदलने के कारण, प्राकृतें बहुत-सी उत्पन्न हुईं; और लुप्त भी हो गईं; संस्कृत एक ही बनी है। साथ ही इसके, प्राकृत और संस्कृत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी है, वैसा ही, जैसा सांख्य में प्रकृति और विकृति का।

अव्यक्त प्रकृति में जो अनन्त संस्कार लीन हैं, उनका उद्बोधन

और अभिव्यंजन होकर, विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, और अनन्त विषमता और भेद दिखलाती हैं। फिर, विकृतियाँ समता की ओर झुककर, क्रमशः प्रकृति की अव्यक्तावस्था में प्रलीन हो जाती हैं। यदि किसी एक विकृति की संस्कृति, संस्कार, संस्करण, व्याकरण और कोष बनाकर, हो जाय, तो यह 'सम्यक्-कृत' विकृति कुछ दिनों के लिए स्थिर हो जाती है। इसको अंगरेजी में 'स्टैंडर्डाइज़ेशन' कहते हैं।

संस्कृत से अपभ्रंश होकर तरह-तरह की प्राकृतें पैदा हो गई हैं। प्राकृतों का पुनस्संस्करण होकर संस्कृत के लिए नवीन शब्द भी मिल सकते हैं।

मतलब यह कि ऐसे विचार वालों का कहना है कि दूसरी भाषा से लिये हुए शब्दों का स्वरूप शुद्ध रखा जाय तो भाषा स्थिर रहेगी; नहीं तो अपनी-अपनी वागिन्द्रिय की बनावट के अनुसार सब ही मनुष्य उनमें रद्दो-बदल करने लगेंगे। कोई कोमल तोतला आकार चाहेगा, कोई तेजस्वी, शानदार, शुस्ता, साफ और सफ्फ़ाफ़!

दूसरों का कहना है कि एक सेना में कई तरह की वर्दी बेढब मालूम पड़ती है। अभी तक, दोनों पक्ष के समर्थक, युक्तियाँ लगा ही रहे हैं। सर्व-साधारण की सूत्रात्मा ने कोई निर्णय नहीं कर पाया है। पर ग्रन्थ-साहित्य अधिक बढ़ने पर इसका भी निर्णय हो ही जायगा। जैसा अंग्रेजी में हो गया है। जैसा सुनता हूँ कि बंगला, गुजराती, मराठी में कुछ-न-कुछ हो गया है। इन तीन भाषाओं को यह सुविधा है, कि इनको फ़ारसी अरबी शब्दों से काम कम है। प्रायः संस्कृत ही का आसरा है। हिन्दी को फ़ारसी अरबी से भी काम है और संस्कृत से भी। तुलसीदास जी ने, जिन्होंने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी में अनुवाद वैसा किया जैसा व्यास जी ने वेदों का महाभारत के रूप में, 'रज़ाइश' का आकार 'रजायसु' कर दिया है। 'आश्रय' का तो 'आसरा' सहज ही है। फ़ारसी-दां 'रज़ाइश' पर ही ज़ोर देते हैं। संस्कृतज्ञ के कान को 'आश्रय' ही प्रिय है! सर्व-साधारण को प्रायः रजायसु और

आसरा ही भला लगेगा। मेरा निज का विचार कुछ ऐसा होता है कि लिखे और छपे ग्रंथों के लिए यदि शब्दों के शुद्ध आकार पर ज़ोर दिया जाय, तो साहित्य की स्थिरता बढेगी। बोलने में चाहे थोडी ढिलाई भी रहे। ज़ाहिरा, 'खडी बोली' का प्रयोग बढता भी जाता है। यही शकल हिन्दी और उर्दू के मेल की, अर्थात् हिन्दुस्तानी की, होती दीख पड़ती है। मामूली बोल-चाल में तो, जैसे आदमी आदमी की शक्ल-सूरत में और आवाज़ में फ़र्क होता है, वैसे ही शब्दों में कुछ-न-कुछ होता है और रहेगा। एक घर में बच्चे कुछ और बोलते हैं, स्त्रियाँ कुछ और, पुरुष कुछ और, नौकर कुछ और। एक दूसरे की बात ठीक-ठीक समझ जायं, इतना तो जरूरी है, और जैसे हो वैसे साधना चाहिए; इसके बाद यदि थोड़ा भेद रहे, तो वह भी संसार की विचित्रता के आवश्यक रस में सहायता ही देता है। जब शास्त्रीय विषयों (इल्मी मज़ामीन) पर लेख लिखना हो, तब संस्कृतज्ञ ग्रन्थकार अवश्य ही संस्कृत से संज्ञा-पद, विशेषण आदि लेगा, और अरबी-फ़ारसी-दां उन ज़बानों से इस्म व सिफ़त के लफ़्ज़ों को। यह फर्क, भेद, मिट नहीं सकता; न मिटाने की ज़रूरत है; जैसे तामिल, तेलगू, गुजराती, मराठी के ग्रन्थ अलग छपते ही हैं, वैसे ही हिन्दी और उर्दू के भी अलग क्यों न बनें और छपें? हाँ, अगर दोनों तरह के लिखने वाले इतना ध्यान रखें और यह उपाय काम में लावें, कि ठेठ संस्कृत शब्द के साथ, 'ब्रैकेट', कोष्ठक में उसका अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ के साथ ब्रैकेट में संस्कृत पर्याय रख दिया करें, तो पाँच-पाँच छः-छः सौ शब्द, दोनों तरफ के, दोनों तरफ वालों की अभ्यस्त हो जायं।

❁

: ११ :

# राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि

## ( सेठ गोविन्ददास )

देश के स्वतन्त्र होने तक स्वतन्त्रता हमारा प्रथम लक्ष्य था। इस कार्य के सामने अन्य सारे कार्य गौण थे। देश के स्वतन्त्र होते ही स्वतन्त्र देश के विधान बनाने का प्रश्न हमारे सामने आया। विधान परिषद् के निर्वाचन के पश्चात् विधान किस भाषा में बने तथा वह देश की किस लिपि में लिखा जाय, देश की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि कौन-सी हो, ये प्रश्न किसी-न-किसी रूप में विधान-परिषद् के सामने आते रहे हैं। यद्यपि इनका अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हुआ है, पर मैं यह मानता हूँ कि बड़े-बड़े विरोधों के रहते हुए भी हिन्दी हमारे देश की राष्ट्र-भाषा और देवनागरी ही राष्ट्र-लिपि घोषित होगी। एक बात और हो सकती है कि नागरी में लिखी जाने वाली 'भारती' हमारे देश की राष्ट्र-भाषा निश्चित की जाय। यदि यह होता है तो मैं इसका भी स्वागत करता हूँ, क्योंकि भारत हमारे देश का प्राचीन नाम है। हिन्द और हिन्दुस्तान नाम तो उसे पीछे से मिला। हिन्द नाम के कारण भाषा का नाम भी हिन्दी हो गया। देश का नाम भारत और भारत देश की भाषा का नाम भारती, यह हमारी परम्परा और संस्कृति के अधिक अनुरूप है। हाँ तो मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि का अब तक चाहे निर्णय न हुआ हो, पर हिन्दी

या भारती ही हमारी राष्ट्र-भाषा और नागरी ही राष्ट्र-लिपि होगी। यदि और कुछ हुआ तो वह स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक होगा और कोई अस्वाभाविक बात स्थायी नही हो सकती।

अंग्रेजी इस देश की राष्ट्र-भाषा हो नहीं सकती। लगभग दो सौ वर्षों के अंग्रेजी राज्य के जाने के उपरान्त इस देश के कितने प्रतिशत लोग अंग्रेजी जानते हैं ? हिन्दुस्तानी कोई भाषा है ही नहीं। उसका न कोई व्याकरण है, न साहित्य। जिस भाषा का अस्तित्व ही नहीं वह राष्ट्र-भाषा कैसे बनाई जा सकती है ? अंग्रेजी की 'कनसाइज़ आक्सफर्ड डिक्शनरी' में हिन्दुस्तानी को मुग़ल विजेताओं की भाषा कहा है। हिन्दुस्तानी कही जाने वाली भाषा में बाज़ारों में बोले जाने वाले शब्दों के अतिरिक्त वैज्ञानिक और शास्त्रीय शब्दों का न निर्माण हुआ है और न हो सकता है। साधारण पढाई-लिखाई भी या तो अंग्रेजी भाषा में हो सकती है या हिन्दी में या उर्दू में; हिन्दुस्तानी में नहीं।

झगडा हिन्दुस्तानी नाम का नही है, झगड़ा है हिन्दुस्तानी नाम में जो अर्थ निहित हो गया है उसका। हिन्दुस्तानी का अर्थ वह भाषा है जिसमें इतने प्रतिशत शब्द संस्कृत, इतने फारसी, इतने अरबी के हों, फिर वह नागरी और अरबी लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा है। कुछ महानुभावों का मत है कि भाषा का नाम हिन्दुस्तानी रखा जाय, पर वह एक ही लिपि नागरी में लिखी जाय, किन्तु भाषा केवल लिखने की न होकर बोलने की भी वस्तु है। "यदि नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा घोषित हो तो भी उसमें कितने प्रतिशत शब्द किस भाषा के रहेंगे, यह प्रश्न उठेगा और रेडियो आदि में जहाँ भाषा लिखी न जाकर केवल बोली जाती है, सदा एक झगड़ा मचा रहेगा, जैसा आज मचा है।

जो लोग हिन्दुस्तानी का विरोध करते हैं, वे किसी साम्प्रदायिक भावना से ऐसा करते हैं, यह मै नहीं मानता, वरन् मैं तो यह कहता हूँ कि हिन्दुस्तानी का समर्थन करने वाले उसका समर्थन साम्प्रदायिकता

की भावना से करते हैं। जो देश में एक संस्कृति चाहते हैं वे भला दो लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा का समर्थन कैसे करेंगे ?

हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होना इसलिए स्वाभाविक नहीं है कि वह अन्य प्रान्तीय भाषाओं से श्रेष्ठ है। हम अन्य प्रान्तीय भाषाओं को नीची और हिन्दी को उनसे ऊँची नहीं मानते। हिन्दी का राष्ट्र-भाषा होना इसलिए स्वाभाविक है कि कुमायूँ से लेकर बस्तर तक और जैसलमेर से बिहार के पूर्वीय छोर के अन्तिम ग्राम तक हिन्दी ही लोगों की भाषा है। उसे इस देश की तीस करोड़ में से अठारह करोड़ जनता बोलती और बाइस करोड़ समझती है। संयुक्त-प्रान्त, बिहार, महाकौशल, राजस्थान, मध्यभारत, बिन्ध्य प्रदेश, पूर्वी पंजाब, हिमाचल-प्रदेश की भाषा हिन्दी है। दक्षिण भारत में भी इसका प्रचार अत्यन्त शीघ्रता से हो रहा है।

राष्ट्र-भाषा और प्रान्तीय भाषाएँ—राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी हो जाने का कोई यह अर्थ न समझे कि हम भिन्न-भिन्न प्रांतों की प्रांतीय भाषाओं का गला घोटना चाहते हैं। विदेशी राज्य ने विदेशी भाषा को हमारे देश पर लाद, उसी को हमारी शिक्षा का माध्यम, हमारी धारा-सभाओं और न्यायालयों की भाषा बना हम पर जो घोर अत्याचार किया था, ऐसी कोई बात करने की कल्पना तक हम नहीं कर सकते। जिन प्रांतों की भाषा हिन्दी नहीं है, जैसे बंगाल आसाम, उड़ीसा, महाराष्ट्र, गुजरात, तामिल, आन्ध्र, कर्नाटक, मलयालयम आदि उन प्रांतों में हम शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा को नहीं बनाना चाहते, न वहाँ की धारा-सभाओं और न्यायालयों में हम हिन्दी को चलाना चाहते हैं। अहिन्दी प्रांतों की शिक्षा का माध्यम, वहाँ की धारा-सभाओं और न्यायालयों की भाषा प्रांतीय भाषा ही रहे। हाँ, केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय सारे कार्य राष्ट्र-भाषा हिन्दी में ही होने चाहिएं और केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय सारे कार्य सुचारु रूप से चल सकें इसके लिए समूचे भारत में राष्ट्र-भाषा की शिक्षा

भी अनिवार्य होनी चाहिए। हम इस बात के लिए भी प्रस्तुत हैं कि दक्षिण भारत तथा अन्य अहिन्दी प्रांतों के अपने भाइयों की सुविधार्थ केन्द्र में भी हिन्दी के साथ-साथ कुछ समय के लिए अंग्रेजी का अस्तित्व रख लिया जाय। देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाओं दोनों का समान महत्त्व है, और दोनों की समान उन्नति आवश्यक है।

राष्ट्र-भाषा और अंग्रेजी—अंग्रेजी भाषा से भी हमारी कोई शत्रुता नहीं। देश के बाहर की बातों के ज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए हमें अंग्रेजी का सहारा लेना ही होगा। इन कार्यों के लिए अंग्रेजी के अतिरिक्त हम और किसी भाषा का आश्रय नहीं ले सकते।

राष्ट्र-भाषा और उर्दू—उर्दू और हिन्दी का कैसा सम्बन्ध रहेगा इस पर भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। उर्दू भाषा से भी हमारा कोई द्वेष नहीं। हम उर्दू भाषा और उसके साहित्य का सम्मान करते हैं। वह इस देश में जन्मी और यहीं पनपी है। हम तो उसे हिन्दी की ही एक शैली मानते हैं। परन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यहाँ जन्म लेने और पनपने वाली उर्दू भाषा का साहित्य मुसलमानों को एक पृथक् समुदाय बनाये रखने में सहायता देता रहा है। उर्दू के साहित्य में हिमालय का वर्णन न होकर कोहकाफ़ का वर्णन होता है। वह साहित्य कोयल के स्थान पर बुलबुल को ही महत्त्व देता है। उसके वीर भीम, अर्जुन न होकर रुस्तम आदि हैं। वह दधीचि और शिवि को छोड़ हातिम की उदारता का वर्णन करता है। हमारे मुसलमान भाइयों के मन में पार्थक्य की भावना है, भारतीय संस्कृति से अलग अपनी संस्कृति को रखने के विचार हैं, उसमें सदा उर्दू और उसके साहित्य ने सहायता पहुँचाई है। पार्थक्य की इस भावना ने ही द्विराष्ट्र सिद्धांत को जन्म दिया, जिसके कारण देश का विभाजन हो गया। भारत में रहने वाले मुसलमान भाई यदि अपने को अन्य भारतीयों से अलग मानेंगे तो इस देश पर भविष्य में अनेक ऐसी आपत्तियाँ

आ सकती हैं जिनकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हिन्दू धर्म ही सारे भारतीयों का धर्म नहीं है। दो धर्मों को मानने वाले भी एक कुटुम्ब में रहते हैं। पंजाब में एक ही कुटुम्ब में हिन्दू-सिख रहते हैं। राजस्थान में भी प्रायः एक ही कुटुम्ब में वैष्णव और जैन रहते हैं। क्या ऐसी स्थिति नहीं आ सकती जब एक ही कुटुम्ब में एक व्यक्ति हिन्दू और दूसरा मुसलमान रहे ? हमारे पड़ौसी देश चीन और रूस में जब यह बात है तब भारत में क्यों नहीं हो सकती ? चीन और रूस में बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमानों के धर्म पृथक्-पृथक् होने पर भी उनकी संस्कृति पृथक्-पृथक् नहीं है। उनके नामों तक से इस बात का पता नहीं लगता कि कौन किस धर्म को मानता है। हम चाहते हैं कि पार्थक्य की इस भावना को त्याग कर मुसलमान भारतीय संस्कृति को अपना कर इस देश के अन्य निवासियों में घुल-मिल जायं। वे भी हिन्दी भाषा को अपना लें। महाराष्ट्र, बङ्गाल, आसाम, उडीसा, गुजरात, तामिल, आँध्र, कर्नाटक, मलाया में रहने वाले मुसलमान इन प्रांतों की भाषाओं को ही बोलते और लिखते हैं। कुछ दिन पहले जब साम्प्रदायिकता का ऐसा दौर-दौरा नहीं था तब इन प्रांतो के मुसलमानों में उर्दू का प्रचार न था, और हमारे हिन्दी-भाषी मध्य-प्रांत के मुसलमान हिन्दी मे ही सारे कार्य करते थे, अधिकांश उर्दू जानते तक न थे। प्राचीन समय में अनेक मुसलमानों ने हिन्दी भाषा को अपना कर उसमें उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं। कबीर, जायसी, रहीम, रसखान, आदि-आदि का नाम हिन्दी के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

गत कुछ वर्षों से साम्प्रदायिकता के कारण उर्दू भाषा का एक विशेष प्रकार से प्रसार किया जा रहा है। जैसा मैंने अभी कहा हम उर्दू के विरोधी नहीं हैं, पर जिस पार्थक्य की भावना से उर्दू का यह प्रसार हो रहा है, उसका कम-से-कम मैं घोर विरोधी हूँ।

राष्ट्र-भाषा का भावी स्वरूप—भाषा के नाम और लिपि के प्रश्न के साथ ही हमारी राष्ट्र-भाषा कैसी हो, यह प्रश्न भी हमारे सामने

है। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सरल-से-सरल हो; जिसे सहज में सब लोग समझ सकें। परन्तु जहाँ एक ओर भाषा की सरलता की ओर हमारा ध्यान रहना चाहिए, वहाँ दूसरी ओर हमें इस बात पर भी ध्यान रखना होगा कि हमारी भाषा में उपयुक्त शब्दों का प्रयोग हो, जो सूक्ष्म अर्थ का भी यथातथ्य बोध करा सकें। वैज्ञानिक और शास्त्रीय ग्रन्थों अथवा लेखों की भाषा बहुत सरल नहीं हो सकती। ललित साहित्य में भी कहानी, उपन्यास एवं नाटक की भाषा 'जितनी सरल हो सकती है उतनी कविता की नहीं। यदि वैज्ञानिक और शास्त्रीय भाषा को हम सरल बनाने का प्रयत्न करेंगे तो भाषा में यथातथ्य बोध की शक्ति नहीं आ सकेगी। और यदि कविता में भी अत्यधिक सरलता लाई जायगी तो उसका भाषा-सौष्ठव नष्ट हो जायगा। हमारी भाषा में जो शब्द बाहरी भाषाओं के आगए हैं उनका बहिष्कार हमें नहीं करना है, वरन् हमें तो अन्य भाषाओं के और शब्द भी ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिए। आज जो अंग्रेजी भाषा इतनी उन्नत है उसका प्रधान कारण यही है कि उसने अपने शब्द-कोष को अन्य भाषाओं के शब्दों से समृद्ध किया है। नारमन लोगों की जीत के समय अंग्रेजी भाषा की क्या स्थिति थी और धीरे-धीरे उसकी श्री-वृद्धि कैसे हुई, इसे हम देखें। हाल ही में आयरलैण्ड में गेलिक भाषा का किस प्रकार उत्थान हुआ इसका अवलोकन करें। परन्तु इसी के साथ अपनी भाषा के उद्गम और गठन को देखते हुए हमे यह भी स्वीकार करना होगा कि हम नये शब्दों के निर्माण में प्रधानतया संस्कृत से ही सहायता ले सकते हैं। फिर तामिल के सदृश एक दो प्रान्तीय भाषाओं को छोड़ शेष हमारी सभी प्रान्तीय भाषाओं की जननी संस्कृत ही है। संस्कृत से शब्द लेने पर हम अन्य प्रान्तीय भाषाओं के भी अधिक समीप रह सकेंगे।

संस्कृत की शब्द-सरिता भारतवर्ष की सभी साहित्यिक भाषाओं का पोषण करती है। उसकी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, अभिव्यञ्जनाओं

और सूक्तियों से भारत की प्रत्येक भाषा के ग्रन्थ ओत-प्रोत हैं। वही भारत की सांस्कृतिक एकता की प्रतीक है। उसके शब्द प्रत्येक भाषा में इतने प्राचुर्य से प्रयुक्त हुए हैं कि कभी-कभी दो भारतीय भाषाओं में भेद करना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए विश्व-विख्यात कवि-सम्राट् श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की "मानसी" नामक पुस्तक से "सूरदासेर प्रार्थना" शीर्षक कविता लीजिए:—

अपार भुवन, उदार गगन, श्यामल काननतल,
　　वसन्त अति मुग्ध मूरति, स्वच्छ नदीर जल,
विविधवरण सान्ध्यनीरद ग्रहतारामयी निशि,
　　विचित्र शोभा शस्य क्षेत्र प्रसारित दूर दिशि।
सुनील गगने घनतर नील अति दूर गिरिमाला,
　　तारि परपारे रविर उदय कनक-किरण ज्वाला।
चकित-तड़ित सघन वरषा पूर्ण इन्द्रधनु-
　　शरत् आकाशे असीम विकास ज्योत्स्ना शुभ्रतनु।

इसे कौन कह सकता है कि यह हिन्दी की कविता नहीं। तीन-चार स्थलों पर बंगला के प्रत्ययों और विभक्ति चिह्नों को छोड़कर केवल उत्तर ही नहीं, दक्षिण भारत भी इसे अपनी काव्य-सम्पत्ति कह सकता है।

राष्ट्र लिपि—हमारी देवनागरी इस देश की ही नहीं समस्त देश की लिपियों में सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। हमारी लिपि में स्वरों और व्यंजनों का जैसा वैज्ञानिक पृथक्करण है वैसा अन्य लिपियों में नहीं। 'अ' का उच्चारण हर स्थान पर 'अ' ही होगा और 'इ' का 'इ' ही; 'क' यदि कहीं लिखा जायगा तो वह 'क' ही पढ़ा जायगा और कुछ नहीं। अंग्रेजी में जिस प्रकार 'बी यू टी' बट का 'यू' 'अ' पढ़ा जाता है और 'पी यू टी' पुट का 'यू' 'उ' वैसा हमारी लिपि में नहीं होता। हमारी लिपि में लिखे जाने वाले शब्दों के वर्ण-विन्यास में भी कोई कठिनाई नहीं पड़ती। अंग्रेजी शब्दों में जिस प्रकार मूक (साइलेन्ट) अक्षर रहते

हैं वैसे हमारे यहाँ नहीं। उर्दू में अक्षरों को मिलाकर लिखने और नुक़तों के कारण उसके पढने में जो अड़चनें आती हैं वे हमारी लिपि में नहीं। हर विषय की शिक्षा हमारी लिपि के द्वारा जितनी सुगमता से दी जा सकती है उतनी अन्य किसी लिपि के द्वारा नहीं। फिर हमारी लिपि संस्कृत लिपि होने के कारण अन्य प्रांतीय भाषाओं की लिपि के जितने सन्निकट है, उतनी अन्य कोई लिपि नहीं। मराठी में तो इसी लिपि का उपयोग होता है, गुजराती लिपि और हिन्दी लिपि में भी अधिक अन्तर नहीं और बंगला लिपि के भी अधिकांश अक्षर नागरी लिपि से मिलते-जुलते हैं। इतना ही नहीं, बर्मा, सिंहल, मलाया, श्याम, हिन्देशिया और हिन्द चीन आदि की वर्णमालाएँ भी प्रायः हमारी वर्णमाला के ही समान हैं। फिर भी आधुनिक यंत्रकाल में उसमें थोड़े-बहुत सुधारो की आवश्यकता है। विशेषज्ञों की राय से हमें इन सुधारों को अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए। इस दिशा में हम संकुचित वृत्ति न रखें। हमारी भाषा और साहित्य में निर्माण का कार्य हमें तेज़ी से अवश्य चलाना है, और जीवित भाषा में भाषा के लिए स्वच्छन्दता की भी आवश्यकता है। स्वच्छन्दता में बन्धन अखरते हैं तथापि कुछ-न-कुछ नियंत्रण भी आवश्यक होते हैं। इस क्षेत्र मे हमें बहुत सूक्ष्म अनुसंधान की ओर तो न जाना चाहिए, किन्तु भाषा के रूप के सम्बन्ध में विद्वानों को एकत्रित हो कुछ-न-कुछ निश्चय कर लेना आवश्यक है।

: १२ :

# राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

( श्री वियोगी हरि )

मैं हिन्दी को, उसके प्रचलित रूप मे, राष्ट्र-भाषा और नागरी लिपि को राष्ट्र-लिपि मानता हूँ। मेरी इस मान्यता मे शुद्ध और पूर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है। जहाँ तक हिन्दी के बोलने का सम्बन्ध है, विभिन्न हिन्दी-भाषी प्रदेशों में भी उसके अनेक रूप प्रचलित हैं। लिखी भी वह कई शैलियों में जाती है। एक शैली उसकी उर्दू भी है, जिसका चलन विशिष्ट जनो में पाया जाता है स्पष्ट है कि हमने इस विशिष्ट शैली को वहिष्कृत नही किया; ऐसा करने की हमारी कभी मन्शा भी नहीं। किन्तु सम्मेलन ने हिन्दी की उसी साधारण शैली को राष्ट्र-भाषा माना है, जिसमें कबीर, रैदास, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, गुरु नानक, रहीम, रसखान, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत आदि कवियों और संतों ने, तथा राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द आदि लेखकों ने राष्ट्र के विचारों और भावों को, भिन्न-भिन्न कालों और अलग-अलग परिस्थितियों में, स्वाभाविक रीति से व्यक्त किया है। ये सब मणियाँ एक ही अखंड सूत्र में पिरोई हुई हैं। भारतीय राष्ट्र की व्यापक भावनाओं को व्यक्त करने की क्षमता रखने वाली संस्कृत और प्राकृत-मूलक भाषाएँ ही सदा से रही हैं। और हिन्दी ने तो इस दशा में

सबसे अधिक काम किया है। राष्ट्रीय चेतना को जगाने और फैलाने में वह सबसे अधिक समर्थ भाषा सिद्ध हुई है, इसमें कोई सन्देह ही नहीं।

हमारे देश में भाषा कभी वाद-विवाद का विषय नहीं बनी थी। उस पर कभी राज-सत्ता का अंकुश नहीं रहा। मुस्लिम शासन-काल में भी राज-भाषा फ़ारसी उसके फलने-फूलने में दखल नहीं दे सकी। राज-भाषा लोक-हृदय और लोक-मस्तिष्क पर थोड़े ही शासन कर सकती है? यह अलग बात है कि हमारे कवियों और लेखकों ने अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्दों को सद्भाव से, सहज रीति से, ग्रहण कर लिया। हमारी भाषा में वे घुल-मिल गए, रच-पच गए। इसमें कोई साम्प्रदायिक या राजनीतिक दृष्टि नहीं थी। यह अंगीकार तो 'अयत्न-साधित' हुआ। इस चीज के भीतर, अनजताये, प्रेम की भावना काम करती थी। वे यह सोच-सोच कर नहीं लिखते या कहते थे कि अमुक शब्द को इसलिए लेना ठीक नहीं कि उसे अमुक जन-समुदाय नहीं समझ सकेगा। यह भी समझे और वह भी समझे, बल्कि शब्दों के बंटवारे में हम काफी उदार भी समझे जायं—इस नीयत से हम लिखेंगे और बोलेंगे, तो वह भाषा स्वभाव-सरल न होकर बनावटी ही होगी। भले ही हमारी मन्शा भाषा को सरल या आमफ़हम बनाने की हो, पर अपने इस अस्वाभाविक प्रयत्न में हम सफल नहीं हो सकेंगे। दो विभिन्न भाषाओं के समानार्थक शब्दों को एक साथ रखने से भी भाषा के आमफ़हम बनाने का प्रश्न हल नहीं होगा। साम्प्रदायिक ऐक्य-साधन की धुन में भाषा को जान-मानकर बिगाड़ना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं। बे-मेल शब्दों को कान उमेठ-उमेठकर जबरदस्ती ऐसी जगह बिठाना, जो उनके लिए मौज़ूं न हो, एक व्यर्थ का ही प्रयास है। क्या कभी इस तरह सरल, सुबोध और सामान्य भाषा बनी है? इस फेर में पड़कर भाषा को—हिन्दी को भी और उर्दू को भी—अस्वाभाविक और असुन्दर क्यों बनाया जा रहा

है ? सरल भाषा तो स्वभाव से ही सुन्दर होती है। जिस भाषा मे, जिस शैली मे सौन्दर्य नहीं, लोच नहीं, चमत्कार नहीं, वह लोक-हृदय को कैसे आकृष्ट कर सकती है ?

कबीर ने भाषा को बहता नीर कहा है। प्रवाह सहज अर्थात् 'अयत्न-साधित' होता है। हमें इस बात को भी तो ध्यान में रखना चाहिए कि हम किस प्रकार की भाषा या शैली द्वारा क्या कहना और लिखना चाहते हैं। भाषा और शैली दोनों विषय-विशेष का अनुसरण करती हैं। विषय की यथेष्ट व्यंजना लेखक या वक्ता के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर करती है। कबीर ने और उनकी कोटि के पारदर्शी संतों ने सरल-से-सरल भाषा में अध्यात्म के ऊँचे और गहरे सिद्धान्तों का सफलता पूर्वक निरूपण किया है। पर उनका अनुकरण कौन करे ? वे तो भाषा के अधिनायक थे, भावों के सम्राट् थे। उनकी निपट सरल-सहज भाषा उस महारस की अनूठी गागर है, जिसे उन्होंने जीवन की सहज साधना से भरा था। पूज्य गांधीजी की भी हिन्दी ऐसी ही स्वभाव-सरल होती थी। वे भाषा के नियमों का भंग जान-बूझकर नहीं करते थे। मगर उनके 'हरिजन-सेवक' की वर्तमान हिन्दी—नहीं, नहीं, हिन्दुस्तानी को जरा आप देखें। उसमें हिन्दी का बे-मेल गठ-बंधन किस भौंड़ेपन के साथ किया जा रहा है ! हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी और उर्दू का यह भद्दा परिहास अच्छा नहीं।

यदि समन्वय के विचार से राष्ट्र-भाषा को बिलकुल नये साँचे में ढाला जा रहा हो, तो मुझे इतना ही कहना है कि समन्वयीकरण में भाषा की मूल प्रकृति का हमें पूरा ध्यान रखना होगा। यह व्याख्या कोई खास मानी नहीं रखती कि हमें ऐसी ज़बान में लिखना चाहिए, जिसमें न संस्कृत के कठिन शब्दों की अधिकता हो और न अरबी-फारसी के मुश्किल लफ़्ज इस्तैमाल किये जायं, और जिसे सर्व-साधारण समझ लें। विषय को देखते हुए हम जान-मानकर कठिन शब्द नहीं रखेंगे, पर सम्भव नहीं कि हमारी भाषा में यथास्थान संस्कृत के तत्सम

तथा तद्भव शब्द प्रचुरता से उपयोग में न लाये जायं। विदेशी भाषाओं के जो शब्द हमारे नित्य के व्यवहार मे आते हैं और घुल-मिल गए हैं वे हिन्दी में हमेशा आदर का स्थान पायंगे, आवश्यकता-नुसार निर्बाध-रूप से हम नये शब्दों को भी खपाते रहेंगे। इतना ही नहीं, राष्ट्र-भाषा को अधिक समृद्ध बनाने के विचार से भिन्न-भिन्न जनपदों और प्रांतों के बहु-अर्थगर्भित समर्थ और सुन्दर शब्दों का भी हम उसमें समावेश करेंगे। समन्वय का मैं भी विरोधी नहो, प्रेमी हूँ। किन्तु समन्वय वैसा, जैसा राग में भिन्न-भिन्न स्वरों का। प्रत्येक राग का, उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार, बँधा हुआ सरगम होता है। इस स्वर को यहाँ इतना स्थान मिला है, तो उस या उन स्वरों को यहाँ उतना ही मिलना चाहिए, अथवा यह स्वर मध्यम लगाया गया है, तो वह भी मध्यम ही लगाना चाहिए—यदि इस न्याय-नीति को लेकर आप सरगम की पुनर्रचना करने बैठेंगे तो उससे कौन-सा राग बनेगा? इस नीति से भला कभी सामंजस्य सिद्ध हुआ है? यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी है। जिस प्रयत्न द्वारा हमारी भाषा की प्रकृति का अंग-भंग होता हो, उसे असुन्दर और विरूप बनाया जाता हो, उस प्रयत्न का चाहे जो नाम दिया जाय, पर उसे समन्वय या सामंजस्य का प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। असली सिर काटकर उसकी जगह बकरे का सिर चिपका देने से दक्ष प्रजापति की जो शक्ल बनी थी उसे देखकर तो भगवान् रुद्र भी खिलखिलाकर हँस पड़े थे! उस विचित्र आकृति को नर और अजा का समन्वय कहने के लिए क्या आप तैयार हैं? इस प्रकार के असामंजस्यपूर्ण कृत्रिम प्रयत्नों से न कभी समन्वय हुआ है और न होगा।

अच्छा तो यह होगा कि हिन्दी और उर्दू को अपने-अपने रास्ते बढ़ने और फैलने दिया जाय। बिना किसी बाहरी जतन के, पहले की तरह, आपस में अपने-आप दोनों अनजताये आदान-प्रदान क्यों न करती रहें? राष्ट्र के विचारों और भावों को व्यक्त करने की जिसमें जितनी

अधिक सामर्थ्य होगी वह उतने ही बड़े जन-समूह को स्वयं अपनी ओर खींच लेगी। उद्यान में आप सभी फूलों को अपने-अपने रस में महकने दें। एक पेड़ का फूल तोड़कर दूसरे पेड़ की डाली पर न खोंसते फिरें। भ्रमर किन फूलों पर जाकर बैठते हैं और किन पर नहीं, इस व्यर्थ की चिन्ता में न पड़ें—यह पसंदगी तो आप कृपा करके रस-ग्राही भ्रमरों पर ही छोड़ दें। प्रकृत रसिकों के आगे गिने-चुने फूलों के गुलदस्ते सजा-सजाकर न रखें।

तब तो शायद इसका अर्थ हुआ कि हमें भाषा के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का सुधार, प्रयत्न और प्रचार नहीं करना चाहिए। नहीं, मेरा यह आशय कदापि नहीं। प्रयत्न और प्रचार हम अवश्य करें, पर वह शुद्ध रचनात्मक हो, अकृत्रिम हो और भाषा-विज्ञान के नियमों से असम्बद्ध न हो। यदि हमारे प्रचार का आधार समर्थ साहित्य का निर्माण होगा, तो फिर विवाद या शंका के लिए स्थान ही नहीं। रचनात्मक अर्थात् प्रेम-मूलक प्रयत्न और प्रचार से हम विभिन्न भाषाओं में सही और स्वाभाविक समन्वय सिद्ध कर सकेंगे। और तभी, मलिक मुहम्मद जायसी की इस साखी का अर्थ भी हृदयंगम हो सकेगा—

तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहि।<br>
जेहि मँह मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि॥

मगर 'प्रेम के मारग' का, सन्तों और सूफ़ियों के ऊँचे निर्मल घाट का जहाँ वर्णन करेंगे वहीं हम अन्तर के आमने-सामने बोलने वाली सहज भाषा का सहारा लेंगे। शास्त्रीय गम्भीर विषयों के निरूपण में हम दूसरी ही भाषा और शैली का प्रयोग करेंगे। इसी प्रकार दर्शन और विज्ञान की भाषा भी भिन्न होगी। अपने विचारों व भावों को यथार्थ, परिष्कृत और सुन्दर ढंग से प्रकट करने की दृष्टि से कहीं हम संस्कृत के तत्सम शब्दों का उपयोग करेंगे, कहीं तद्भव शब्दों को काम में लायंगे और कहीं देशज और अन्य भाषाओं के

शब्दों को स्थान देंगे। ऐसा होगा हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी का स्वरूप, और यह रूप निर्धारित भी हो चुका है।

राजनीतिक और साम्प्रदायिक प्रश्न हमारी भाषा पर दबाव नहीं डाल सकेंगे। उस पर राज-शासन नहीं चल सकेगा; उलटे, उसके अन्दर राज्य को जमाने और उलट देने की शक्ति होगी। यह शक्ति बीज-रूप से हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी के अन्दर विद्यमान है। राष्ट्र की भावनाओं को जगाने और एक छोर से दूसरे छोर तक फैलाने में हिन्दी का सबसे अधिक हाथ रहा है। फिर हिन्दी को किसी खास सम्प्रदाय की भाषा कहने का कौन साहस करेगा? हिन्दी का उर्दू से न वैर है, न उससे कोई भय। वह तो उसकी ही अपनी एक विशिष्ट शैली है। कल की हिन्दुस्तानी से भी उसे कोई खटका नहीं, न हिन्दुस्तानी नाम से ही उसे चिढ़ है। यदि हिन्दुस्तानी नाम से भाषा के उसी स्वरूप को ग्रहण किया जाता हो जिसे कि हम आज राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, तो हिन्दी का 'हिन्दुस्तानी' नामकरण करने में हमें सङ्कोच नहीं होगा, यद्यपि नया नामकरण बिलकुल व्यर्थ है। प्रश्न तो असल में भाषा के स्वरूप का है।

एक ग़लत प्रचार—भारत के उन सभी प्रान्तों में, खासकर दक्षिण में, जहाँ हिन्दी पूर्ण रूप से बोली नहीं जाती, कुछ दिनों से यह भ्रामक मत फैलाया जा रहा है कि शुमाली याने उत्तरी हिन्दुस्तान में वह ज़बान खूब बोली और बरती जाती है जो न हिन्दी है न उर्दू, फिर भी जो हिन्दी और उर्दू की मिलावट से बनी है—उसे वहाँ हिन्दुस्तानी कहते हैं और वही वहाँ की आमफ़हम भाषा है। एक ज़िम्मेदार सज्जन ने तो यहाँ तक कह डाला कि हमारे लिए तो संस्कृत-निष्ठ हिन्दी और अरबी-फारसी के लफ़्ज़ों से लदी उर्दू ये दोनों ही एक जैसी अजनबी हैं। एक तक़रीर में यह भी कहा गया कि सम्मेलन ने जिस हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मान रखा है उसमें आज सही नज़र और फैली हुई क़ौमियत नहीं दिख रही है। ज़बर-

दस्ती क़ौमियत क़ायम करने के लिए भारत राष्ट्र का सब-कुछ बलि कर देने की तैयारी हो रही है। इसके लिए कुछ ऐसे विद्वानों की व्यवस्थाएँ भी ली गई हैं, जिन्होंने जान या अनजान में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों की तोड़-फोड़ की है और कुछ नये आविष्कार भी किये हैं। भाषा-विज्ञान के विद्वानों के मतों की उपेक्षा की गई है। हिन्दी भाषा तथा साहित्य के इतिहास के पन्ने उलटने की आवश्यकता नहीं समझी गई। चूँकि उद्देश्य ज़बरदस्त क़ौमियत कायम करने का रहा है, इसलिए इसमें स्वभावतः प्रायः ऐसे पण्डितों का सहयोग प्राप्त किया गया है, जो राजनीतिक समझौतों और सौदों के बल पर साम्प्रदायिक एकीकरण की सम्भावना मे विश्वास करते हैं। इसी हेतु को साधने के लिए नये-नये तर्कों द्वारा तरह-तरह का प्रचार किया जा रहा है। कहूँगा कि हजार प्रचार करने पर भी कोई इस प्रखर सत्य पर पर्दा नहीं डाल सकता कि "भारतवर्ष का कम-से-कम चार-पाँचवाँ हिस्सा प्रकृति से ही संस्कृत शब्दों को समझता है," इसलिए उसकी दृष्टि में संस्कृत-मूलक हिन्दी 'अजनबी' हो नहीं सकती। हिन्दी की शरीर-रचना में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का रहना स्वाभाविक है; उन्हें वह छोड़ नहीं सकती। उसकी जिस संस्कृत-निष्ठता पर आज आक्षेप किया जाता है वही उसकी लोक-व्यापकता का मूल कारण है। सम्मेलन के पूना-अधिवेशन में श्री नरसिंह चिंतामणि केलकर ने यह बिलकुल सही कहा था कि—"मराठी और हिन्दी के बीच जो नाता पहले से है वह तो संस्कृत भाषा के कारण ही है" हिन्दी को 'संस्कृत-निष्ठ' कहना ही ग़लत है। हिन्दी तो हिन्दी ही है।

हिन्दी की विशिष्ट शैली उर्दू को जो सीखना चाहते हैं शौक़ से सीखें। हमारी उनके साथ कोई बहस नहीं। उर्दू के लहलहे बाग़ से कितने ही अच्छे खुशबूदार फूल चुने जा सकते हैं। उसमें सैर करने का कौन मना करता है? यदि बने तो फारसी-साहित्य का भी ज्ञान-लाभ

कर सकते हैं। हमारा किसी भी भाषा और उसके साहित्य से विरोध नहीं। किन्तु संस्कृत-मूलक या संस्कृत-युक्त भाषा-भाषियों पर उर्दू को और हिन्दुस्तानी के नाम से परिचित नई क़ौमी ज़बान को, जो उर्दू का ही एक भद्दा रूप है, लादा नहीं जा सकता। मेरी प्रार्थना है कि हमारे सम्मान्य मित्र कृपाकर अहिन्दी-भाषी प्रांतों में व्यर्थ भ्रम न फैलायें, बुद्धि-भेद पैदा न करें। यह मुझे विश्वास है कि देश में शुद्ध राष्ट्रीयता के विकसित होते ही इस ओर ऐसे ही दूसरे भ्रमों का निवारण अपने-आप हो जायगा। सूर्य-मण्डल को कोहरे का आँचल आखिर कब तक छिपाये रख सकता है?

हिन्दी और हिन्दुस्तानी के इस अप्रिय वाद-विवाद पर, पक्ष और विपक्ष में, इधर बहुत-कुछ कहा और लिखा गया है। मेरे विद्वान् मित्र भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने समय-समय पर राष्ट्र-भाषा हिन्दी के पक्ष का खासा तर्क-संगत और शिष्टतापूर्ण समर्थन किया है। अन्य विद्वान् लेखकों ने भी अपने-अपने ढंग से हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पर कई खोज-पूर्ण लेख लिखे हैं। किन्तु घरेलू विवाद में कभी-कभी कुछ कटुता-सी देखने में आई है। यह हमारे लिए शोभा की बात नहीं है। आपस के ऐसे विचारों में शील-मर्यादा का हमें पूरा ध्यान रखना है। गाँधी जी ने राष्ट्र-भाषा हिंदी की अनुपम सेवा की है। सम्मेलन उनका सदा ऋणी रहेगा। आज दुर्भाग्य से भाषा के प्रश्न पर हमारा उनके साथ मत-भेद हो गया है। मत-भेद प्रकट करते समय हमारी तर्क-शैली और भाषा में अविनय नहीं आनी चाहिए। हमें यह न भूलना चाहिए कि गाँधी जी के त्याग-पत्र का अर्थ सम्मेलन का परित्याग नहीं है। उन्हीं के शब्दों में, उनके सम्मेलन से निकलने का अर्थ 'सम्मेलन को अर्थात् हिन्दी की अधिक सेवा करना था।' सम्मेलन के पिछले एक अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल मुंशी के इन शब्दों से मैं सहमत हूँ कि "सम्मेलन और गाँधी जी दोनों अपने-अपने स्वधर्म का पारस्परिक

उदारता से अनुसरण करें । राष्ट्र-भाषा विषयक प्रश्न के समाधान के लिए अटूट श्रद्धा, उत्साह और त्याग की आवश्यकता है।

विधान-परिषद् के सदस्यों से—राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रश्न विधान-परिषद् से इस अंतिम अधिवेशन में आज आप लोगों के सामने विचारार्थ उपस्थित है। यह कुछ अद्भुत और दुःखद-सा है कि हमारा राष्ट्र अपनी प्रकृति-सिद्ध भाषा का निर्णय राजनीतिक विधान बनाने वाले पंडितों के द्वारा कराने जा रहा है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के पक्ष में तथा विपक्ष में काफी से अधिक लिखा और कहा जा चुका है। व्यर्थ आग्रहों को छोड़कर यदि हम केवल भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विचार करें, तो हिन्दी का पक्ष निर्विवाद और बिलकुल स्पष्ट है। यह प्रश्न न तो राजनीतिक है, न साम्प्रदायिक। भारतीय संस्कृति के कारण निस्सन्देह निरन्तर हिन्दी का सम्बन्ध व्यापक रूप से रहा है।

भारत के सर्वाधिक प्रान्तों तथा जनपदों की भाषाएँ और बोलियाँ क्योंकि संस्कृत और प्राकृत-मूलक हैं, अतः मध्यदेशीय हिन्दी भाषा के साथ उनका निकट का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है, कुछेक देशज शब्दों को छोड़कर अधिकांश तत्सम और तद्भव शब्द हिन्दी में प्रायः वे ही प्रयुक्त होते हैं, जिनका प्रयोग अन्य प्रान्तीय भाषाओं में हो रहा है। सांस्कृतिक परम्परा और एकता को इसी कारण हिन्दी ने सबसे अधिक अक्षुण्ण रखा है, और इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के बीच हमारी संस्कृति का आधार हिन्दी भाषा ही स्थायी ऐक्य स्थापित कर सकती है।

प्रश्न भाषा-विज्ञान का है—यह बार-बार कहा और सिद्ध किया जा चुका है कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न मूलतः भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है, न कि राजनीति से। राजनीतिक उद्देश्य भाषा-विज्ञान पर या तो बिलकुल नहीं अथवा कम-से-कम बल्कि नगण्य-सा प्रभाव डाल सकते हैं।

आपको जानना चाहिए कि हिंदी को हमारे राष्ट्र का बहुत बड़ा जनमत व्यावहारिक तथा साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार कर चुका है, उस पर अब केवल राजकीय मोहर लगानी है। स्पष्ट है कि राज्य का निर्माण लोकमत के दृढ़ आधार के बिना हो नहीं सकता।

लोक-भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को हमारे सामने आज हठपूर्वक रखा जा रहा है। यह नाम हमारे लिए कुछ नया नहीं है। कतिपय कूटनीतिक अंग्रेज शासकों ने बहुत पहले हिन्दुस्तानी के नाम से उर्दू को चलाने का विफल प्रयत्न किया था। हिन्दुस्तानी के इस दावे को कि वह लोक-भाषा है या बन सकती है, भाषा-शास्त्र के एक भी पंडित ने कभी स्वीकार नहीं किया। हिन्दुस्तानी की न तो कोई स्थिर व्याख्या है, न उसका कोई साहित्य है; ज्यादा-से-ज्यादा जिस प्रकार उर्दू को हम हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली मानते हैं, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी को भी हिन्दी की एक सरल शैली मान सकते हैं। पर शैली कभी भाषा के सम्पूर्ण रूप का स्थान नहीं ले सकती। मगर आज जिस रूप में हिन्दुस्तानी हमारे सामने आई है, उसे तो हम सरल शैली भी नहीं कह सकते। वह तो हिन्दी का, और उर्दू का भी, बड़ा भद्दा रूप है जिसमें अंग्रेजी के भी कुछ आवश्यक शब्द जहाँ-तहाँ रख दिये जाते हैं। आश्चर्य और दुःख होता है, जब हमारे कुछ समझदार नेता और साहित्यकार भी बिना समझे-बूझे इस अटपटी और निपट बनावटी हिन्दुस्तानी का बार-बार समर्थन किये जा रहे हैं।

प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं—आसान जन-भाषा या आमफहम ज़बान की बार-बार रट लगाई जा रही है। हिन्दुस्तानी के ये हिमायती स्वतः सिद्ध सत्यों की क्यों इस तरह उपेक्षा कर रहे हैं? संसार में आपको किस भाषा का ऐसा उदाहरण मिलेगा, जिसमें लिखे प्रत्येक विषय को वहां का प्रत्येक जन समझ सके? बाजार में सौदा-सुलफ लेने-देने वालों की भाषा राजनीतिक विधानों अथवा विविध विज्ञानों की भाषा नहीं हुआ करती। सवाल असल में बोल-चाल की भाषा का

नहीं है ; प्रश्न तो उस साहित्यिक भाषा का है, जिसमें हम राष्ट्र की समस्त आवश्यकताओं और अभावों को सफलतापूर्वक पूरा कर सकें। विचित्र तर्कों और तुष्टीकरण की खोखली नींव पर खड़ी हिन्दुस्तानी के बूते का यह काम नहीं। आश्चर्य है कि सांप्रदायिकता का समूल नाश करने के लिए सांप्रदायिकता का ही बार-बार आश्रय लिया जाता है! राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में सोचते समय हिन्दू या मुसलमान या ईसाई का चित्र हमारे सामने आये ही क्यों? भाषा तो, जैसे राष्ट्र, वैसे सभी की है।

संस्कृत-निष्ठता का कारण—अनेक प्रचारात्मक नारों के समान ही 'आमफहम', 'सरल भाषा', 'जन-भाषा' आदि भी हवा में गूँजने वाले निरे नारे ही हैं। आज यह भी कहने का एक फैशन-सा चल पड़ा है कि हिन्दी दिन-प्रति-दिन संस्कृत-निष्ठ और क्लिष्ट-से-क्लिष्टतर होती जा रही है, और दूसरे प्रान्तों के लोग उसे सरलता से नहीं समझ पाते। लेकिन ऐसी शिकायत तो दूसरे प्रांत वालों के मुँह से अब तक 'हरिजन-सेवक' और 'नया हिन्द' की बनावटी हिन्दुस्तानी के बारे में ही सुनी गई है। विविध विषयों की व्यापकता के कारण हिन्दी यदि दिन-प्रति-दिन विकसित होती जारही है, तो उसकी समृद्धि पर संस्कृत-निष्ठता और दुरूहता का नाम लेकर, समझ में नहीं आता, क्यों आपत्ति उठाई जाती है?

दो-दो तीन-तीन लिपियाँ बनाये रखने की दलील तो और भी लचर है। मानसिक दासता को हम इस प्रकार छाती से लिपटाये रहेंगे तो संसार हम पर हँसेगा। विविध लिपियों के इस जड़-मोह से हम राष्ट्र को ऐक्य की ओर नहीं, उलटे अनैक्य की ओर ले जायंगे और उसके और भी टुकड़े-टुकड़े कर देंगे ; साथ ही अपनी वैज्ञानिक दृष्टि भी खो बैठेंगे। समझ में नहीं आता कि जो प्रश्न शुद्ध राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक है उन पर बुद्धि-संगत विचार करते समय हम क्यों संकोच और लज्जा का अनुभव करते हैं?

## श्री वियोगी हरि

लज्जा और दुःख की बात तो असल में हमारे लिए यह है कि अपनी राष्ट्र-भाषा का प्रश्न आज हम विधान-सभा में ले जा रहे हैं। कदाचित् सभा के कुछ सदस्य हिन्दी के विपक्ष में भी हाथ उठायें और शायद कुछ तटस्थ भी रहें। अनेक के हृदय में अंगरेजी के प्रति भी पहले की जैसी ही श्रद्धा-भक्ति बनी हुई है। ऐसा न होता तो आज हमारा मूल विधान क्यों एक विदेशी भाषा में तैयार किया जाता, और उसके दो-दो तीन-तीन अनुवाद विधान-सभा में रखकर क्यो हम लज्जा के पात्र बनते। अंग्रेज़ तो गये, पर उनकी मोहिनी माया को छोड़ने को जी नहीं कर रहा, यह कितने दुःख की बात है।

### "बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय"

अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में एक यह भी भ्रम फैलाया गया है कि हिन्दी वहाँ की स्थानीय भाषा को दबा देगी, उन्हें पनपने तक न देगी। इसके पीछे कितना बड़ा दुष्ट हेतु है। आश्चर्य है कि इस विचित्र दलील का प्रयोग अंग्रेज़ों की आक्रमण-नीति पर कभी नहीं किया गया, जिसने सचमुच स्थानीय भाषाओं के बढने में बड़ी-बड़ी बाधाएं डालीं और लोक-मानस को बुरी तरह विकृत कर दिया। फिर भी अंगरेज़ी के प्रति इतना अधिक अन्धमोह और अपने ही देश के बहुसंख्यकों की भाषा की ओर से इतना सन्देह और भय ! स्थानीय भाषाओं का स्थान तो सबसे पहला है। उनके स्वाभाविक पद को कौन छीन सकता है ? राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता तो केवल अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार और ऐक्य-साधन के लिए है। प्रत्येक दृष्टि से यह स्थान हिन्दी को ही मिल सकता है और वह उसको मिल भी चुका है। 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'—हिन्दी की यह प्रतिज्ञा है।

◆

: १२ :

# हिन्दुस्तानी और हिन्दी

( श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन )

हिन्दुस्तानी हिन्दू-मुस्लिम-पैक्ट की भाषा है—हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की नहीं; एकदम बनावटी। उसका उद्देश्य है—ऐसी भाषा लिखने का प्रयत्न करना, जिसमें न संस्कृत के शब्द हों न अरबी फारसी के, और जो दोनों लिपियों में लिखी जा सके। उत्तर भारत में काफी आर्यसमाजी साहित्य प्रचलित है, जो ठेठ हिन्दी में है, लेकिन उसे उर्दू लिपि में लिखकर छाप दिया है—यहाँ तक कि आर्य समाज की संस्कृत सन्ध्या को भी। उर्दू लिपि में लिखा होने-मात्र से क्या वह सारा साहित्य 'हिन्दुस्तानी' समझा जायगा ? यदि नहीं, तो इधर जो कुछ साहित्य पैदा होने लगा है, जो ठेठ उर्दू है, लेकिन जिसे देवनागरी अक्षरों में भी छाप दिया जाता है, वह कैसे हिन्दुस्तानी कहला सकता है ? मेरे एक आदरणीय मित्र हैं। उन्होंने एक किताब लिखी है जो देवनागरी अक्षरों तथा उर्दू हरफ दोनों में छपी है। मैंने उस किताब को हस्तलिपि के रूप में देखा। वह उर्दू में लिखी गई थी। और एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा कि अब बताओ इसमें कहाँ-कहाँ, कौन-कौन शब्द काटकर बदल दिये जायं जिससे यह देवनागरी में भी छप सके। मैंने कहा, मुझे यह अत्यन्त अस्वाभाविक मालूम होता है। इससे उर्दू शैली का प्रभाव नष्ट होता है और हिन्दी का तो आ ही नहीं सकता। तो भी हुआ वही,

जो वे चाहते थे। जहाँ-तहाँ कुछ शब्दों की जगह 'हिन्दी' शब्द लिख दिये गए और वह पुस्तक देवनागरी अक्षरों में भी छप गई।

एक और उदाहरण—दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा ने 'हिन्दुस्तानी' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें मौलाना अबुल-कलाम आजाद का उर्दू में लिखा हुआ एक 'दीबाचा' है, जो देवनागरी अक्षरों में भी ज्यों-का-त्यों 'दीबाचा' ही है? 'दीबाचः' शब्द फारसी का है; उसे फारसी में जगह है और हिन्दुस्तानी की उर्दू में भी; लेकिन हिन्दुस्तान ही जिनकी जन्म-भूमि है ऐसे ये दो शब्द—'प्रस्तावना' और 'भूमिका'—आप कृपया कहें कि अब कहाँ शरण ढूँढें? हिन्दुस्तान मे तो अब उनको शरण मिलेगी नहीं, क्योंकि वे 'हिन्दुस्तानी' नहीं हैं!

और क्या यह 'न संस्कृत, न अरबी-फारसी' भाषा लिखने का प्रयत्न सफल होता है? यदि आपको सारे साहित्य में "मैं जाता हूँ, मै खाता हूं" जैसे दो-दो शब्दो के वाक्यों से ही काम लेना हो तो बात दूसरी है, अन्यथा आप जरा भी गहराई मे उतरें तो आपको अपनी 'न संस्कृत, न अरबी-फारसी' वाली बात तुरन्त छोड देनी होगी। मैं इस 'हिन्दुस्तानी' किताब से ही, जो एकदम बच्चो के लिए लिखी गई है, दो उदाहरण देता हूँ। एक जगह फुटनोट है—"मुजक्कर मुअन्नस की वजह से इफआल मे जो फर्क पैदा होता है, उस्ताद उसे समझाए और मश्क कराए।" हिन्दुस्तानी आदर्शवादियों ने उसे देवनागरी अक्षरो मे कैसे लिखा है—'पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिंग की वजह से क्रियाओं में जो फर्क पैदा होता है, उस्ताद उसे समझाए और मश्क कराए।' दोनों लिपियों मे लिखी जाने योग्य भाषा बनाने के फेर मे देवनागरी मे भी कारण न लिखकर वजह लिखा गया है; अध्यापक न लिखकर उस्ताद लिखा गया है, अभ्यास न लिखकर मश्क लिखा गया है; मानो ये शब्द पहले सब शब्दो की अपेक्षा सरल हों; 'आमफहम' हों; लेकिन तब भी क्या दोनों लिपियों में भाषा लिखी जा सकी? देवनागरी में

"क्रियाओं' है, उर्दू में 'इफ़आल' है ( फेल का बहु वचन फेलों हो जाता लेकिन तब तो वह हिन्दी-व्याकरण के अनुसार होता ), देवनागरी में पुल्लिग है तो उर्दू में मुजक्कर है। देवनागरी में स्त्रीलिंग है तो उर्दू मे मुवन्नस है।

दूसरा उदाहरण लें—पृष्ठ १४ पर—"मुतकल्लम-हाजिर-गायब हालों की मश्क फेले-हाल के मुजक्कर मुवन्नस की सूरतों में करा दी जाय।" दोनों लिपियों में एक ही भाषा लिखने के इच्छुकों को देवनागरी में इसे यों लिखना पड़ता —"उत्तम और मध्यम पुरुष की मश्क- वर्तमान काल के पुल्लिग और स्त्रीलिंग के रूपों मे करा दी जाय।" दोनो वाक्यों में एक 'मश्क' शब्द को छोड़कर कौन-सा विशेष शब्द समान है? यदि हम 'अभ्यास' की जगह इस 'मश्क' शब्द को ही अपनी भाषा मे जगह दें और हिन्दुस्तानी की खातिर "अभ्यास" को देश-निकाला भी दे दें, तब भी क्या इससे वह हिन्दी "हिन्दुस्तानी" हो जाती है?

पिछले दिनों दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के १२ वें-१३ वें पदवी-दान के अवसर पर जनाब सैयद अब्दुल्ला बरेलवी साहब ने एक तकरीर फरमाई थी। उसमें आपने दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा को नेक सलाह दी है कि वह अपना नाम हिन्दी-प्रचार-सभा' न रखकर उसे 'हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा' में तबदील कर दे। आप फरमाते हैं— "हिन्दी नाम से पैदा होने वाले भ्रम को हटाने के लिए मैं अपनी अपील पर जोर दूँगा, खास करके इसलिए कि मुझे पूरा यकीन है कि इस तबादले से मुसलमानों के मन पर बड़ा अच्छा असर होगा।" कुछ लोग कहा करते हैं कि नाम में क्या रखा है; लेकिन बरेलवी साहब नाम के तबादले से ही मुसलमानों के मन पर बड़ा अच्छा असर पैदा करने की उम्मीद करते हैं। आपने अपनी तकरीर में फरमाया है कि कौमी जबान को उसके जो तीन नाम मिले हैं—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी—वे तीनों मुसलमानों के दिये हुए हैं। यदि यह

बात ठीक है तो 'हिन्दुस्तानी' नाम में वह कौन-सी. खासियत है जिसकी वजह से मुसलमान भाई 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनों नामों पर उसे तरजीह देंगे ? आज आप मुसलमानों पर 'अच्छा असर पड़ेगा' की बात कहकर राष्ट्र-भाषा को 'हिन्दुस्तानी' ही कहने की सलाह दे रहे हैं, कल आप उसे उर्दू ही कहने की सलाह भी दे सकते हैं। १९४२ में गाँधी जी ने जब "हिन्दुस्तानी सभा" की नींव डाली तब उसके ३८ बुनियादी मेम्बरों में कितने मुसलमान भाई मेम्बर बने थे ? स्वयं बरेलवी साहब तो खैर उसमें थे ही नहीं, कसम खाने के लिए तीन नाम दिखाई देते हैं, लेकिन ऐसे, जिनमें से कोई भी भाषा-सम्बन्धी शोधों के लिए प्रसिद्ध नहीं—न आजाद हैं, न जाकिरहुसैन हैं, न मौलाना अब्दुल हक हैं।

क्षमा कीजिए यह 'हिन्दुस्तानी' आंदोलन हमारे मान्य राजनीतिक नेताओं की सूझ है और किसी राजनीतिक आवश्यकता का ही परिणाम भी। लेकिन शर्तों पर आश्रित एकता—बनावटी एकता—स्थायी नहीं होती ।

अंग्रेजी और उर्दू के बाद इधर दो-तीन वर्ष से एक नई विचार-धारा ने अपना सिर उठाया है। उसका नाम है हिंदुस्तानी विचार-धारा। जिस प्रकार किसी बोतल पर लगा हुआ लेबल बना रहे लेकिन उसके अन्दर की चीज बदल जाय वही हाल हिन्दुस्तानी लेबल का है। हम इस शब्द को हिन्दी के साथ-साथ काम में लाते रहे हैं—जैसे 'हिंदी-हिन्दुस्तानी' और यह हिन्दी का पर्यायवाची भी रहा है, जैसे हिंदी 'अथवा' हिन्दुस्तानी। लेकिन इधर इस 'अथवा' में आमूल परिवर्तन हो गया है। पहले इसका मतलब था कि चाहे हिन्दी कहो चाहे हिन्दुस्तानी कहो, बात एक ही है। लेकिन अब इस 'अथवा' का अर्थ किया जा रहा है कि हिंदी और हिंदुस्तानी दोनों में से किसी एक का चुनाव करना होगा ! यदि हिंदी का, तो हिंदुस्तानी का नहीं और हिंदुस्तानी का, तो हिंदी का नहीं ।

हम हिंदी वाले वर्षों से प्रचार करते आए हैं कि हिंदी राष्ट्र-भाषा है; इसलिए प्रत्येक हिंदी को, प्रत्येक भारतवासी को, इसे सीखना चाहिए। इस नई विचार-धारा ने, जिससे हमें सावधान रहना चाहिए, कहना आरम्भ किया है कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानो की। यह ठीक है कि हिंदी हिंदुओं की भी भाषा है, किंतु हिंदुओं की नहीं और इसी प्रकार उर्दू भी मुसलमानों की नहीं। सर तेज बहादुर सप्रू उर्दू के प्रसिद्ध समर्थक हैं। वे मुसलमान नहीं काश्मीर के ब्राह्मण हैं। और अंजुमन तरक्की ए उर्दू की मुख्य पत्रिका 'हमारी जबान' के सम्पादक भी श्री ब्रजमोहन दत्तात्रेय हैं। उर्दू लिपि में आपका गोत्र ठीक-ठीक लिखा ही नहीं जा सकता। कोई भाषा किसी धर्म की बपौती नहीं। जो लोग हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा कह-कह कर और उसी प्रकार उर्दू को मुसलमानों की भाषा कह-कहकर हिन्दुस्तानी के द्वारा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के सम्पादन की बात करते हैं—मुझे भय है कि इतिहास ऐसे लोगों को, साम्प्रदायिकता का असाधारण प्रचारक न सिद्ध करे।

हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने पर एक और आपत्ति उठाई जा रही है जिसमें उसके गुण को उसका दोष कहा जा रहा है। कहा जाता है कि ऐसी भाषा ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है 'जिसमें न संस्कृत के शब्द हों, न अरबी-फारसी के'। यदि हमारी राष्ट्र-भाषा को सब काम करने हैं जो आज दिन अंग्रेजी के माध्यम से करते हैं, तो ऐसी भाषा जिसमें 'न संस्कृत के शब्द हों न अरबी-फारसी के' हमारे लिए तीन कौडी की भाषा होगी। हमें यह निर्णय करना ही होगा कि विशेष शब्द आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होने पर कहाँ से लें? स्याम में बैंक को धनागार कहते हैं और नोट को धन-पत्र। हम भारत में यदि इसी प्रकार बोलें और लिखें, तो उसमें किसी को क्यों आपत्ति हो सकती है?

एक और मजे की आपत्ति यह है कि लोगों की मातृ-भाषा हिन्दी में और लोगों की राष्ट्र-भाषा हिन्दी में अन्तर होना चाहिए। अर्थात् जो

हिन्दी किसी की मातृ-भाषा है वह राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। स्काटलैंड और ब्रिटेन के लोगों से अँग्रेजी का वही सम्बन्ध कहा जा सकता है जो मराठी भाषा-भाषी अथवा गुजराती भाषा-भाषी लोगों का हिन्दी से। इंगलिश इंग्लैण्ड के लोगों की मातृ-भाषा होते हुए भी सारे ब्रिटेन की राज्य-भाषा है और सारे ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा। तो क्या एक तरह की अँग्रेजी अँग्रेजों की मातृ-भाषा है और दूसरी तरह की अँग्रेजी ब्रिटेन की राष्ट्र-भाषा और तीसरी तरह की अँग्रेजी ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्य-भाषा? अँग्रेजी अँग्रेजी है। आप उसे मातृ-भाषा मानकर सीखें, राष्ट्र-भाषा मानकर सीखें या साम्राज्य-भाषा मानकर सीखें। किन्तु सुझाया यह जाता है कि हिंदी के दो रूप होने चाहिएँ—एक मातृ-भाषा वाला रूप, दूसरा राष्ट्र-भाषा वाला रूप। सच्ची बात यह है कि मातृ-भाषा के अर्थ में तो हिंदी भारत के कुल चार-पाँच जिलों की भाषा होगी; शेष समस्त भारत की तो हिन्दी राष्ट्र-भाषा ही है। और उसका स्वरूप निश्चित है। हमें आज उसका प्रचार करना है; उसमें नए आवश्यक ग्रन्थों का निर्माण करना है।

: १४ :

# हिन्दी : राष्ट्र-भाषा

( डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा )

हमारी अत्यन्त प्राचीन भाषा का नया कलेवर—मेरा तात्पर्य यहाँ खड़ी बोली हिन्दी से है—तथा उसका साहित्य इस समय कुछ असाधारण परिस्थितियों में होकर गुज़र रहा है। इन नवीन परिस्थतियों के परिणाम स्वरूप अनेक नई समस्याएँ, नई उलझनें, नये भ्रम हमारी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में हिंदियों तथा अहिंदियों दोनों ही के बीच में फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के भावी हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। बात जरा बचकानी-सी मालूम होती है, किंतु मेरी समझ में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में बहुत-सी वर्तमान समस्याओं का प्रधान कारण हिन्दी की परिभाषा, नाम तथा स्थानके सम्बन्ध में भ्रम अथवा दृष्टिकोण का भेद है। अतः सबसे पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुथरे ढंग से सोच सकें तो उत्तम होगा।

आप कहेगे कि हिंदी की परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद ही क्या हो सकता है, किन्तु वास्तव में मतभेद नहीं तो समझ का फेर कहीं पर अवश्य है। हिन्दी-प्रेमियों का एक वर्ग हिन्दी भाषा शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग कदाचित् भिन्न अर्थ में

करता है। देश में हिंदी भाषा के रूप के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं इस दृष्टिकोण से मैं हिन्दी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसे ठीक पावें तो अपनावें, यदि अपूर्ण अथवा किसी अंश में त्रुटिपूर्ण पावें तो विचार-विनिमय के उपरान्त उसे ठीक करें। हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने वालों के पथ-प्रदर्शन के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम और आप स्पष्ट रूप में समझे रहें कि आखिर किस हिन्दी के लिए हम और आप अपना तन-मन-धन लगा रहे हैं। हिन्दी भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—"व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त्त के मध्यदेश अर्थात् वर्त्तमान हिन्दप्रान्त (संयुक्तप्रान्त), महाकौसल, राजस्थान, मध्यभारत विहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूल जनता की मातृ-भाषा है। इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रान्तों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृ-भाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दी भाषा का आधुनिक प्रचलित साहित्यिक रूप खड़ीबोली हिन्दी है, जो मध्यदेश की पढ़ी-लिखी मूल जनता की शिक्षा, पत्र-व्यवहार तथा पठन-पाठन आदि की भाषा है और साधारणतया देवनागरी लिपि में लिखी तथा छापी जाती है। भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय भाषाओं के समान खड़ी बोली हिन्दी तथा हिन्दी की लगभग समस्त बोलियों के व्याकरण शब्द-समूह-लिपि तथा साहित्यिक आदर्श आदि का प्रधान आधार भारत की प्राचीन संस्कृति है जो संस्कृत, पाली, प्राकृत, तथा अपभ्रंश आदि के रूप में सुरक्षित है। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, मारवाड़ी, गढ़वाली, उर्दू आदि हिन्दी के ही प्रादेशिक अथवा वर्गीय रूप हैं।"

इस तरह हम यह पाते हैं कि यद्यपि हिंदी की प्रादेशिक तथा वर्गीय बोलियों में आपस में कुछ विभिन्नता है किन्तु आधुनिक समय मे लगभग इन समस्त बोलियों के बोलने वालों ने हिन्दी के खड़ी-

बोली रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप मे चुन लिया है और इसी साहित्यिक खडीबोली हिंदी के द्वारा हमारे कवि, लेखक, पत्रकार व्याख्याता आदि अपने-अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। कभी-कभी मुझे यह उलाहना सुनने को मिलता है कि हिन्दी भाषा का रूप इतना अस्थिर है कि हिन्दी भाषा किसे कहा जाय। यह समझ में नहीं आता। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रम-मात्र है साहित्यिक दृष्टि से यदि आप आधुनिक हिन्दी के रूप को समझना चाहते हैं तो कामायानी, साकेत, प्रियप्रवास, रंगभूमि, गढ़कुंडार आदि किसी भी आधुनिक साहित्य कृति को उठा लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा शैली के कारण छोटी-छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किन्तु यों आप इन सबमें समान रूप से एक ऐसी विकसित, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पायंगे, कि जिसके व्याकरण, शब्द-समूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श में आपको कोई प्रधान भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यक हिन्दी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम-से-कम अभी तक तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व को क़ायम रखे हुए है। साहित्य के लिए भाषा का माध्यम अनिवार्य है। अतः भाषा के रूप तथा आदर्शों के सम्बन्ध में भ्रम अथवा मतभेद अंत में साहित्य के विकास में घातक हो सकता है। इसीलिए सबसे पहले इस संभव भ्रम की ओर मुझे आपका ध्यान आकर्षित करना पड़ा।

हिन्दी के सम्बन्ध में दूसरी गड़बड़ी उसके नाम के विषय में कुछ दिनों से फैल रही है। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि आख़िर नाम में क्या रखा है। एक हद तक यह बात ठीक है, किन्तु आप अपने पुत्र का नाम रहीम ख़ाँ रखें अथवा रामस्वरूप; इससे कुछ तो अन्तर हो ही जाता है। व्यक्तियों का प्रायः एक निश्चित नाम होता है। रहीम ख़ाँ उर्फ़ रामस्वरूप का चलन आपने कम देखा-सुना होगा। इसमें अतिरिक्त नामकरण संस्कार के उपरान्त, अथवा आजकल की

परिस्थिति के अनुसार स्कूल में नाम लिखाने के बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अपवाद स्वरूप है। यह बात भाषाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रज तथा अवधी थी उस समय हिन्दी के लिए "भाषा" या "भाखा" शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता था। इसके साथ प्रदेश का नाम जोड़कर अक्सर ब्रज भाषा, अवधी भाषा आदि रूपों का व्यवहार हमें मिलता है। गत सौ, सवा सौ वर्ष से जब से हिन्दी के खड़ी बोली रूप को हम मध्यदेशवासियों ने अपने साहित्य के लिए अपनाया तब से हमने अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिन्दी ही रखा। तब से अब तक इस नाम के साथ कितना इतिहास, कितना मोह, कितना आकर्षण बढता गया इसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा हो, अपना हो या व्युत्पत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम चल गया और चल रहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का दिया आर्यभाषा नाम निःसन्देह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक निकट था किन्तु वह नहीं चल सका और वह बात वहाँ ही समाप्त हो गई। किन्तु इधर हमारी भाषा के नाम के सम्बन्ध में अनेक दिशाओं से प्रयास होते दिखलाई पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नये नामों की ओर है—अर्थात् हिन्दी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी तथा राष्ट्र-भाषा। यदि ये नाम इस श्रेणी के होते; जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुआ, पुतुआ और बेटा नामों से भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किंतु मुनुआ, पुतुआ तथा बेटा रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि नाम-परिवर्त्तन सम्बन्धी यह उद्योग हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी प्रसिद्ध हिन्दी साहित्य-सेवी की

ओर से नहीं आया है। इस विचार से सूत्रधार प्रायः देश के राजनीतिक हित-अनहित की चिंता रखने वाले महापुरुष हैं। हमारी भाषा के नाम के साथ यह खिलवाड करना अब उचित नहीं प्रतीव होता। हमारे राजनीतिज्ञ पण्डित यदि ये सोचते हों कि हिंदी का नाम बदलकर वे उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतर सकेंगे तो यह उनका भ्रम-मात्र है। प्रत्येक हिंदी का विद्यार्थी यह जानता है कि 'हिन्दी' नाम प्रारम्भ में खड़ी बोली उर्दू भाषा के लिए प्रयुक्त होता था। हमने अपनी भाषा के लिए जब यह नाम अपनाया, तो दूसरे वर्ग ने हिंदी छोडकर हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम रख लिया। यदि भाषा को पुकारने लगें तो दूसरा वर्ग हटकर कहो और जा पहुँचेगा। 'राष्ट्र-भाषा' जैसे ठेठ भारतीय नाम को तो दूसरे वर्ग से स्वीकृत करवाना असंभव है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा-शैली की है। यदि आप खडी बोली उर्दू शैली को तथा तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक वातावरण को स्वीकृत करने को उद्यत हों तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि दूसरे वर्ग को हिंदी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में आपत्ति नहीं होगी। किंतु क्या हमसे अपनी भाषा-शैली तथा साहित्यिक संस्कृति छुडाई जा सकती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। संभव है कि कुछ व्यक्ति छोड़ दें, किन्तु भारत जब तक भारत है तब तक देश नहीं छोडेगा। राजनीतिक सुविधाओं के कारण हमारी भाषा से सहानुभूति रखने वाले राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी भाषा के संबन्ध में यह एक नई गडबडी उपस्थित न करें। यदि इसमें कोई लाभ होता तब तो इस पर विचार भी किया जा सकता था किंतु वास्तव में हिंदी को हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्र-भाषा नामों से पुकारने से हिंदी-उर्दू की समस्या हल नहीं होगी। इस समस्या को सुलझाने का एक ही उपाय था—या तो स्वर्गीय प्रसाद जी से स्वर्गीय इक़बाल की भाषा में साहित्य-रचना करवाना अथवा स्वर्गीय इक़बाल से स्वर्गीय प्रसाद की भाषा में रचना करवाना।

यदि इसे आप असंभव समझते हों तो हिंदी और उर्दू के बीच में एक नये नाम के गढ़ने से कोई फल नहीं । हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्र-भाषा नाम के कारण हिन्दी की साहित्यिक शैली के सम्बन्ध में कुछ लेखकों के हृदय में भ्रम फैलने लगा है इसी कारण मुझे अपनी साहित्यिक भाषा के नाम के सम्बन्ध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ ।

तीसरी समस्या, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिन्दी भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है । जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फारसी का ईरान, फ्राँसीसी का फ्रांस उसी प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिए, यह बात प्रायः भुला दी जाती है । इधर कुछ दिनों से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा, अर्थात् अखिल भारतवर्षीय अंतर्प्रान्तीय भाषा होने के पहलू पर इतना अधिक ज़ोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ़ हमारा ध्यान ही नहीं जाता । वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अंतर्प्रान्तीय । हिन्दी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त्त के मध्यदेश में गंगा की घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रान्तों तथा देशी राज्यों में विभक्त है । हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केन्द्र संयुक्तप्रान्त, महाकौशल, मध्यभारत, राजस्थान, बिहार, दिल्ली तथा पंजाब में हैं । यहाँ की पढ़ी-लिखी जनता की यह साहित्यिक भाषा है—राज-भाषा तो अभी नहीं कह सकते । इन प्रदेशों के बाहर शेष भारत की जनता की साहित्यिक भाषाएँ भिन्न हैं, जैसे बंगाल में बंगला, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी आदि । इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिन्दी को प्रधानतया अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय के साधन-स्वरूप ही देखती है । प्रत्येक की अपनी-अपनी साहित्यिक भाषा है किन्तु अन्तर्प्रान्तीय कार्यों के लिए कुछ लोगों के चाहे उन्हें हिन्दी की भी आवश्यकता जान पड़ती है ।

हम हिन्दियों की साहित्यिक भाषा भी हिन्दी है, और अन्तर्प्रान्तीय भाषा भी हिंदी ही है । हिंदी के बनने-बिगडने से एक बंगाली, गुजराती या मराठी की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पडता इसलिए हिंदी के संबध में विचार करते समय उसका एक तटस्थ व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है । किंतु हिंदी भाषा या साहित्य के बनने-बिगडने पर हम हिंदियों की भविष्य की पीढियों का बनना-बिगडना निर्भर है । उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए भारतीय, ईरानी, जापानी लोग अभी काम चलाऊ अंग्रेज़ी सीख लेते हैं और योग्यतानुसार सही ग़लत प्रयोग करते रहते हैं किंतु एक अंग्रेज़ का अपनी भाषा के हित-अनहित के संबंध मे विशेष चिन्तित होना स्वाभाविक है । इस सबंध में एक आदरणीय विद्वान् ने एक निजी पत्र में अपने विचार बहुत ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किये हैं । उनके ये सदा स्मरण रखने योग्य वचन पठनीय हैं :—"मैं कहता हूँ क्यों हिंदी को हिंदी नहीं कहा जाता, क्यों मातृ-भाषा नहीं कहा जाता, क्यों इस बात को स्वीकार करने में हिचकते हैं कि उसके द्वारा करोडों का सुख-दुःख अभिव्यक्त होता है; राष्ट्र-भाषा अर्थात् तिजारत की भाषा, राजनीति की भाषा, कामचलाऊ भाषा यही चीज़ प्रधान हो गई और मातृ-भाषा साहित्य-भाषा, हमारे रुदन-हास्य की भाषा गौण । हमारे साहित्यिक दारिद्र्य का इससे बढ़कर अन्य प्रदर्शन क्या होगा ।"

वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य का उत्थान-पतन प्रधानतया हिंदी-भाषियों पर निर्भर है । हिंदी भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य को जितना ऊपर वे उठा सकेंगे उसके आधार पर ही अन्य प्रान्तवासी राष्ट्र-भाषा हिंदी को सीख सकेंगे व उसके संबंध में अपनी धारणा बना सकेंगे । इस समय भ्रमवश एक भिन्न परिस्थिति होने जा रही है । हिंदी-भाषियों को अपनी भाषा आदि का रूप स्थिर करके राष्ट्र-भाषा के हिमायतियों के सामने रखना चाहिए था । इस समय राष्ट्र-भाषा प्रचारक हिंदी का रूप स्थिर करके हम हिंदियों को भेंट करना

चाहते हैं। इनका प्रधान कारण हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं को न समझना है। हिंदी भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है। मै इसे अक्षयवट इसलिए कहता हूँ कि वास्तव में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएं तथा साहित्य हिंदी भाषा के ही पूर्व रूप हैं। हिंदी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा उत्तराधिकारिणी है। इस अक्षयवट की जड़ें, तना तथा प्रधान शाखाएं आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा हिंदी-प्रदेश में स्थित हैं," किन्तु इस विशाल वट वृक्ष के स्निग्ध हरित पत्रो की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती है। भारत के उपवन मे इस अक्षयवट के चारों ओर बंगला, आसामी, उड़िया, तेलगू, तामिल आदि के रूप मे अनेक छोटे-बड़े नये-पुराने वृक्ष भी हैं। हम सबके ही हितैषी हैं। किंतु भारतीय संस्कृति का मूल प्रतिनिधि तो यह वट वृक्ष ही है। इसके सींचने के लिए और सुदृढ करने के लिए वास्तव मे इसकी जड़ो में पानी देने तथा इसके तने की रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुखिया की तरह, इस सुदृढ वृक्ष की हरी-हरी पत्तियाँ उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा, सूर्य के आतप तथा प्रचंड वायु के कोप से आप ही करती रहेंगी। आज हम मूल और शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतो मे पाया जाने वाला हिंदी का राष्ट्र-भाषा का स्वरूप तो अक्षयवट की शाखाओं और पत्तियो के समान है। यह शाखा-पत्र समूह कपड़े लपेटने या पानी डालने से पुष्ट तथा हरा नहीं होगा, उसको पुष्ट करने का एक ही उपाय है जड को सीचना और तने की रक्षा करना। मेरी समझ में हिंदी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट रूप में समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। हिंदी के घर में हिंदी को सुदृढ करना मुख्य कार्य है और हिंदी-हितैषियों की शक्ति का प्रधान' अंश इसमे व्यय होना चाहिए 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्'। अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में हिंदी का अन्य प्रांतो में प्रचार भावी-भारत की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया

राजनीतिज्ञों का है और इसका संबंध अन्य प्रांतों के हित-अनहित से भी है; अतः इस क्षेत्र से इस वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए। हिंदी-भाषियों को तथा साहित्यिकों को इस क्षेत्र में काम करने वालों की सहायता करने के लिए सदा सहर्ष उद्यत रहना चाहिए; किंतु इस संबंध में हिंदी-भाषियों तथा साहित्यिकों को अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

हिन्दी भाषा और साहित्य के संबंध में सिद्धांत संबंधी कुछ मूल समस्याओं की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया है। यदि इन मूल भ्रमों का निवारण हो जाय तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ सहसा स्वयं लुप्त हो जायंगी। समयाभाव के कारण मैं विषय का विवेचन विस्तार के साथ तो नहीं कर सका किंतु मैंने अपने दृष्टिकोण को भरसक स्पष्ट शब्दों में रखने का उद्योग किया है। हमारी भाषा के उचित विकास तथा नव साहित्य-निर्माण में और भी अनेक छोटी-छोटी बाधाएं उपस्थित हैं। इनका संबंध प्रधानतया हिन्दी-भाषियों से है। इनमें से भी कुछ के संबंध में मैं अपने विचार संक्षेप में आपके सामने विचारार्थ रखना चाहूँगा।

हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में बाधक एक प्रधान समस्या हिन्दी-भाषी प्रदेश की द्विभाषा समस्या है। इस सत्य से आँख नहीं मींचनी चाहिएं कि साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से हिंदी-प्रदेश में हिंदी उर्दू के रूप में दो भाषाओं और साहित्यों की पृथक् धाराएं बह रही हैं। पश्चिमी मध्यदेश अर्थात् पंजाब, दिल्ली, पश्चिमी संयुक्तप्रांत तथा राजस्थान के जयपुर आदि के राज्यों में तो उर्दू धारा आज भी पर्याप्त रूप से बलवती है, किन्तु शेष मध्यदेश में अर्थात् पूर्वी संयुक्त-प्रांत, बिहार, मध्यभारत तथा महाकोसल में हिंदी का आधिपत्य जनता पर काफ़ी है। हिंदी प्रदेश की यह द्विभाषा समस्या एक असाधारण समस्या है क्योंकि बंगाल, गुजरात, तामिल, कर्नाटक आदि भारत के किसी भी अन्य भाषा-प्रदेश के सामने यह संकट कम-से-कम अभी

तो वर्त्तमान नहीं है। उदाहरण के लिए बंगाली भाषा प्रत्येक बंगा
की अपनी प्रादेशिक भाषा है; चाहे वह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौ
जैन कुछ भी हो। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मैं हिंदी-उर्दू-मिल
को असंभव समझता हूँ—वास्तव में दोनों में ज़मीन-आसमान
अंतर है। हिंदी लिपि, शब्द-समूह, तथा साहित्यिक आदर्श वैदिक का
से लेकर अपभ्रंश काल तक की भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत है
उर्दू लिपि, शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श हिंदी-प्रदेश में क
आए हैं और अभारतीय दृष्टिकोण से लबालब हैं। हिंदियों
साहित्यिक सांस्कृतिक भाषा केवल हिन्दी है और हो सकती है। किं
हिंदी के सम्बन्ध में एक भ्रम के निवारण की नितांत आवश्यकता है
वह यह कि हिंदी हिंदुओं की भाषा न होकर हिंदियों की भाषा है
मध्यदेश अथवा हिदी प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक हिन्दी को—चा
वह वैष्णव हो या शैव, मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो
बंगाली—हिंदी भाषा, साहित्य और लिपि को अपनी वर्गीय ची
समझकर सबसे पहले और प्रधान रूप में सीखना चाहिए। प्रत्ये
व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या साम्प्रदायिक लिपि तथा भाषा
भी सीखे इसमें मुझे आपत्ति नहीं, किन्तु उसका स्थान हिन्दी प्रदे
में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में जिनकी मातृ-भा
हिंदी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिंदी ही हिंदी प्रदे
की सच्ची साहित्यिक भाषा उन्हे दूसरे पक्ष के सामने विनय
साथ, किंतु साथ ही दृढता के साथ, अपने इस दृष्टिकोण को रखन
चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विशेषतया पश्चिमी हिन्
प्रदेश में हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म व जाति के लोग
में इस भावना का प्रचार करने का निरंतर उद्योग हो। मैं उर्दू
विरुद्ध नहीं हूँ किंतु मैं उर्दू को हिंदी-प्रदेश में हिंदी के बराबर ना
रख पाता हूँ। मैं उसे एक द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ
हिंदी-उर्दू की समस्या को हल करने का यही एक उपाय है। दूस

उपाय उर्दू भाषा और लिपि को अपने प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान लेना है। राजनीतिक प्रभावों से असम्भव भी सम्भव हो जाता है, किंतु अब तो देश की प्रगति स्वाभाविक अवस्था की ओर लौट रही है, अतः इस अस्वाभाविक परिस्थिति की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की त्रुटियों में से एक त्रुटि यह बतलाई जाती है कि वह सर्वसाधारण की भाषा और साहित्यिक आदर्श से बहुत दूर है। उसे जनता के निकट वर्ग लाना चाहिए। इसमें अंशतः सार है, किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्यिक वर्ग तथा सर्वसाधारण में अन्तर का कम होना देश के लिए सदा हितकर है; किंतु समस्त समाज को, फलतः समस्त साहित्य को, एक श्रेणी के अन्तर्गत ला सकना मेरी समझ में एक स्वप्न-मात्र है। साहित्य को सर्वसाधारण के निकट ले चलने के उद्योग के साथ-साथ सर्वसाधारण की अभिरुचि तथा ज्ञान को ऊपर उठाना भी साहित्यिकों का कर्तव्य है। साहित्यकार सिनेमा और थियेटर कम्पनियों की श्रेणी के व्यक्ति नहीं हैं, जिनका प्रधान उद्देश्य सर्वसाधारण की माँग को पूरा करना-मात्र होता है। साहित्यिकों का चरम उद्देश्य तो समाज को ऊपर उठाना है। मैं मानता हूँ कि अनावश्यक रूप से भाषा और साहित्य को क्लिष्ट बनाना उचित नहीं है, किंतु साथ ही शैली का नाश करके तथा साहित्यिक अभिरुचि को तिलांजलि देकर साहित्य को नीचे उतारने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ। भारतीय समाज के उच्चतम और निम्नतम वर्गों में भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति सम्बन्धी सभी बातों में पर्याप्त अन्तर है। जैसे-जैसे यह संस्कृति सम्बन्धी अन्तर कम होता जायगा, वैसे-वैसे हमारी सुसंस्कृत भाषा और हमारा उच्च-साहित्य भी सर्वसाधारण के निकट पहुँचता जायगा। ऊपर के लोगों को नीचे झुकाने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या नीचे के लोगों को ऊपर लाने की है—'कामायनी' को 'बनारसी कजलियों' के निकट ले जाने की

अपेक्षा 'बनारसी कजली' पढ़ने वालों की अभिरुचि को 'कामायनी' की साहित्यिक अभिरुचि की ओर उठाने की विशेष आवश्यकता है।

संभव है कि मेरे इन विचारों से कुछ लोगों को यह भ्रम जाय हो कि हम साहित्यिक लोग देश की राजनीतिक समस्याओं तथा उस क्षेत्र में कार्य करने वालों की सेवाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा कदापि नहीं है। वास्तव में देश की राजनीतिक समस्या हमारे जीवन-मरण की समस्या है, किंतु साथ ही भाषा और साहित्य की समस्या भी कम गंभीर समस्या नहीं है। सुसाहित्य तथा उसकी शिक्षा के अभाव में ही हमारी दीर्घकालीन राजनीतिक परतंत्रता के मूल कारण सन्निहित है। वास्तव में साहित्य मनुष्य की संस्कृति का विधाता है, और राजनीति इस व्यापक संस्कृति का अंग-मात्र है। मै राष्ट्र के सिपाही को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखता हूँ, किंतु मैं देश के साहित्यकार को और भी अधिक सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। सिपाही देश के धन-जन की रक्षा या नाश करने वाला है, किंतु साहित्यकार तो राष्ट्र के मन, मस्तिष्क और आत्मा को बनाने-बिगाड़ने वाला है। राजनीतिज्ञ का महत्त्व तो देश-काल से सीमित है, किंतु साहित्यकार के हाथ में तो संसार का भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य ही सब-कुछ है, अपने देश की स्वतंत्रता के प्रयास के इस असाधारण युग में हमें 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह' आदि इस वेद वाक्य को और भी स्मरण रखने की आवश्यकता है, नहीं तो योरपीय परिस्थिति की पुनरावृत्ति होने की अपने यहाँ भी फिर पूर्ण आशंका है। ब्रह्म अर्थात् साहित्य-मस्तिष्क और आँख है, क्षत्र अर्थात् राजनीति स्कंध और बाहु-बल है। दोनों ही का सदुपयोग तथा दुरुपयोग हो सकता है, किंतु साहित्य का दुरुपयोग बहुत अधिक भयंकर परिणाम वाला होता है, इसे कभी नहीं भुलाना चाहिए।

कठिनाइयों के रहते हुए भी हमें क्षण-भर भी हताश नहीं होना चाहिए। हिन्दी भाषा और साहित्य ने तो जन्म से ही अपने पैरों पर

खड़ा होना सीखा है। असाधारण विरोधी परिस्थितियों तक में हम अपनी पताका फहराते रहे हैं। शोषकवर्ग की सहायता तो हमें कभी मिली ही नहीं। हमारे हिन्दी प्रदेश के दरबारों में जब फ़ारसी राज-भाषा थी उस समय हमने सूर, कबीर, और तुलसी पैदा किये थे। फ़ारसी आई और चली गई किंतु सूर-तुलसी-कबीर तो अमर हैं। हमारे प्रदेशमें जब अंग्रेजी राज-भाषा हुई तब हमने अपनी तपस्या से रत्नाकर, प्रसाद और प्रेमचंद-जैसे रत्न उत्पन्न किये। अंग्रेजी जा रही है किंतु यह निश्चय है कि हमारे इन रत्नों की चमक दिन-दिन बढ़ती जायगी। आज भी राजनीतिक परिस्थिति हमारी भाषा और साहित्य के लिए पूर्णतया अनुकूल नहीं है, किंतु हमें इसकी क्षण-भर भी चिंता नहीं करनी चाहिए। यदि हमारा आत्म-विश्वास कायम रहा यदि हमारे हृदयों में भारतीय संस्कृति का चिराग़ जलता रहा तो मध्यप्रदेश के इस बलवान स्रोत के नित्य प्रवाह को संसार की कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती।

◆

: १५ :

# हिन्दी का स्वरूप

( श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' )

बड़े खेद का विषय है कि हमारे देश के मुसलमान भाई न जाने क्यों यह समझ बैठे हैं कि भारतवर्ष से बाहर की भाषाएं, भारतीय भाषाओं की अपेक्षा, उनके अधिक निकट हैं। बात जैसी है, उसे वैसे ही समझ लेना चाहिए। आज का भारतीय मुसलमान, यानी पढ़ा-लिखा, नेला-ठप्पे का, मुसलमान अभारतीय, किंवा भारतीय संस्कृति-विरोधी, है। और, आज के भारतीय मुसलमान में जो यह भारतीयता-विरोधी मानस-ग्रन्थि दिखलाई दे रही है वह कुछ नई नहीं है। उर्दू भाषा के विकास के इतिहास पर यदि हम विचार करें तो हमें पता लगेगा कि उसका यह वर्तमान स्वरूप भारतीयता-विरोधी मुस्लिम भावना का ही प्रतिफल है। इस समय मैं इस प्रश्न की ऊहापोह में न पड़ूँगा कि भारतीय मुसलमान समाज की भारतीयता-विरोधिनी मनोवृत्ति के ऐतिहासिक कारण क्या हैं? बिना किसी ऐतिहासिक विवेचन के यदि मैं सन् १९४६ में दिल्ली में व्यक्त किये गए विचारों को ही दोहरा दूँ तो आपको मेरा मन्तव्य स्पष्ट रूप से अवगत हो जायगा। इस देश में इस्लाम ने अभारतीय स्वरूप धारण किया है, और दिन-प्रति-दिन के भारतीयता विरोध का यह रंग और गहरा होता जा रहा है।

गतवर्ष कहा था कि "भारतीय मुसलमान, भारतीय संस्कृति

भारतीय इतिहास, भारतीय वीर पुरुषों और भारथीय परम्पराओं को विजातीय समझना ही अपने इस्लाम के प्रति भक्तिरव्यभिचारिणी का आवश्यक तत्त्व मानता है। अतः वह भारतीय भाषा को अपनी भाषा नहीं मानता। यह दुर्भाग्य का विषय है। पर है यह सत्य, यथार्थ बात। आज तुर्की का मुसलमान अपनी तुर्की भाषा से अरबी के शब्द बीन-बीन कर निकाल रहा है। आज ईरान का मुसलमान अपनी फारसी भाषा से अरबी के शब्द निकाल कर अपनी भाषा को शुद्ध एवं सुसंस्कृत कर रहा है। पर आज का भारतीय मुसलमान, इस प्रमाद के वश होकर कि अभारतीयता इस्लाम-भक्ति की द्योतक है, अपनी उर्दू भाषा में अरबी शब्दों को घुसेड रहा है। यह हमारी बिडंवना है। भारतीय मुसलमानों की इस मनोवृत्ति का कारण हम हैं। हम उच्चवर्ण के हिन्दू, जिन्होंने अपने धार्मिक संकोच के कारण तथा अपनी सडी-गली परिपाटी पूजा के कारण, अपनी संस्कृति को, अपने मनोभावों को विकृत कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्य धर्मावलंबी जन हमारे शुद्ध स्वरूप को देख ही न पाये। कारण कुछ भी हो, भारतीय मुसलमान की इस अराष्ट्रीय, अथवा अभारतीय, किंवा भारतीयता-विरोधी रुझान के अस्तित्व को स्वीकृत करके ही हमें आगे की भाषा सम्बन्धी नीति का निर्णय करना है। मेरा अपना यह विश्वास है कि यदि भारतीय मुसलमान को इस्लाम के सच्चे स्वरूप का दर्शन करना अभीष्ट है तो उसे अपने मन और प्राणों को भारतीयता के सांस्कृतिक रंग मे रँगना पड़ेगा। जो मेरे मुसलमान मित्र मिश्र हो आए हैं और जिन्होंने वहाँ के मुसलमानों के मनोभावों को समझने की प्रयास किया है, उनका कहना है कि आज का मिश्री मुसलमान अपने पूर्वज फरऊन सम्राटों के प्रति श्रद्धा-भक्ति का, एवं उनकी अचकचा देने वाली महती सांस्कृतिक विशालताओं मे गौरव का अनुभव करता है—हालांकि कुरानशरीफ में फरऊन सम्राटों में से कुछ की तीव्र निन्दा की गई है। भारतीय मुसलमानों के लिए गत्यंतर नहीं है। उन्हें

अच्छे, सच्चे मुसलमान बनने के लिए अच्छे-सच्चे भारतीय बनने की प्रेरणा प्राप्त करनी पड़ेगी।"

हमारे देशवासी भाइयों की—अर्थात् हमारे मुसलमान भाइयों की—भाषा सम्बन्धी नीति इस बात का एक और प्रमाण है कि उनका मनोभाव अभारतीय है। उर्दू भाषा के विकास और उसके आरम्भ का क्रमागत इतिहास इस बात का साक्षी है कि उर्दू के उन्नायकों ने एतत् देशीय शब्दों—संस्कृत किंवा प्रान्तीय भाषाओं में व्यवहृत होने वाले शब्दों—के बहिष्कार की भित्ति पर ही उर्दू-ए-मो-अल्ला का प्रसाद निर्मित करने की ठान ली थी। अदीब उलमुल्क नवाब सैयद नसीर खाँ के 'मुग़ल और उर्दू' नामक ग्रन्थ का एक उद्धरण पं० चन्द्रवली पांडेय ने अपनी 'उर्दू कब और कैसे बनी' नामक पुस्तिका में अंकित किया है। नवाब सैयद नशीरखाँ महाशय का कथन इस प्रकार है:—

"उमदतुल मुल्क ने और उमरा के मशविरा से दिल्ली में एक 'उर्दू अंजुमन' कायम की। उसके जलसे होते, ज़बान के मसयले छिड़ते, चीज़ों के उर्दू नाम रखे जाते, लफ्ज़ों और मुहाविरों पर बहसें होतीं, और बड़े रगड़ों-झगड़ों और छान-बीन के बाद 'अंजुमन' के दफ्तर में वह तहक़ीक़शुदा अलफाज़ व मुहावरात क़लमबन्द, होकर महफूज़ किये जाते। और बकौल मियरुलमुता खरीन, इनकी नकलें हिन्द के उमराव रूसा के पास भेज दी जातीं और वे उनकी तक़लीद को फख़्र जानते और अपनी-अपनी जगह उन लफ्ज़ों और मुहाविरों को फैलाते।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उर्दू भाषा को विकसित करते समय उसके निर्माताओं के मन में इस देश के शब्दों को बहिष्कृत करने की भावना थी। यदि हम सरूर के उस शेर को याद करें जो उन्होंने नासिक के सम्बन्ध में कहा था तो हमारा यह सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है। सरूर महाशय श्रीयुक्त नासिक की प्रशंसा में में कहते हैं:—

बुलबुले सीराज़ को है रश्क नासिक का सरूर।
इस्फ़हां उसने किया है कूचहाए लखनऊ॥

किंचित् सोचिये तो कितना बड़ा अभारतीय अथवा भारतीय-विरोधी मनोभाव है। नासिक की प्रशंसा इसलिए की गई कि उन्होंने लखनऊ की गलियों को इस्फहान बना दिया। अर्थात् अपनी रचनाओं मे उन्होंने इतना अधिक एतत्-देशीय शब्द बहिष्कार किया और फारसी शब्दों की इतनी ठूँस-ठाँस की कि लखनऊ की गलियाँ इस्फहान वन गईं। मेरा तात्पर्य यह है कि उर्दू के विकास की यह गति यों ही चलती रही। स्वयं कवि गुरू श्रीयुक्त मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपने एक शेर में इसी भावना की पुष्टि बड़े गर्व के साथ की है। वे कहते हैं:—

जो ये कहे कि रेख्ता क्यूं कर हो रश्के फ़ारसी ?
गुफ्तये ग़ालिब एक बार पढ़के उसे सुनाके यों।

उर्दू को फारसी का ईर्ष्या-भाजन बनाना, अर्थात् देशी तत्सम, तद्भव शब्दों से उसे विरहित करना, एक प्रकार का गुण समझा जाता है। अपने देश की राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न को सुलझाते समय हमें इस पृष्ठ-भूमि—इस ऐतिहासिक भावना का—सदा ध्यान रखना होगा राष्ट्रीय एकता की उपासना में मैं अपने को किसी से भी पीछे रखने को तैयार नहीं हूँ। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे उस पुण्य पुरुष का चरणानुगामी; सहयोगी एवं वात्सल्य-भाजन होने का गौरव प्राप्त है, जिसका नाम गणेशशंकर विद्यार्थी था और जिसने हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की स्थापना के सत्प्रयत्न में अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। गणेश-शङ्कर की परिपाटी जिसकी थाती हो, वह विद्वेष की भावना से प्रेरित नहीं हो सकता। मैं मुस्लिम संस्कृति, इस्लाम और उर्दू का भक्त हूँ। मैं उर्दू का विनाश नहीं चाहता। पर, एकता के भ्रम-जाल में पड़कर मैं अपनी भाषा—इस देश की बहुजन-स्वीकृत राष्ट्र-भाषा हिन्दी का नाश भी नहीं करना चाहता।

मैं इस बात का घोर विरोधी हूँ कि हिन्दुस्तानी नामक किसी कपोल-कल्पित भाषा के सृजन के नाम पर हिन्दी का स्वरूप विकृत किया जाय। प्रश्न सीधा-सा है—क्या आप हम राजनीतिक, अर्थ-शास्त्रीय, वैज्ञानिक, गणित विषयक, ज्यामिति शास्त्रीय आदि शब्दों को संस्कृत से, लेने को तैयार हैं ? अथवा क्या ये नित नव किन्तु सतत प्रयोगों में आने वाले शब्द अरबी या फारसी से लिये जायंगे ? मेरे देश की ऐतिहासिक परिपाटी, संस्कृति, जन-रुचि एवं जन-हित भावना का यह आदेश है कि वर्तमान आवश्यकता एवं वर्तमान विचार-धारा को व्यक्त करने वाले अभीष्ट शब्द संस्कृत अथवा देशी भाषाओं से ही आयं। अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ हिंदी और उर्दू का संघर्ष होगा।

इस संघर्ष को दूर करने का एक-मात्र उपाय यह है कि अपने देश की विडंबना को ध्यान में रखकर हम इस देश की दो राष्ट्रीय भाषाएं मान लें। गत वर्ष इस संबंध में मैंने कहा था कि हिन्दी तथा उर्दू, दोनों को राष्ट्र-भाषा मान लेने पर निःसन्देह हिन्दी वह राष्ट्र-भाषा होगी जिसे देश का बहुमत समझेगा, और उर्दू वह राष्ट्र-भाषा होगी जिसे देश का एक महत्त्वपूर्ण अल्पमत बिना समझे भी—राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन देखकर सन्तोष-लाभ करेगा। 'बिना समझे भी'—ये शब्द मैंने जान-बूझ कर रखे हैं। गुजरात, महाराष्ट्र, काठियावाड़, कर्नाटक, उत्कल, बंगाल, आसाम, मध्यप्रान्त, बिहार, राजस्थान आदि प्रान्तों का मुसलमान संस्कृत-मिश्रित भाषा ही समझ सकता है। वह अरबी-फारसी के बोझ से बोझिल भाषा को नहीं समझ पाता है। पर, किया क्या जाय ? विवशता है। आज के युग में मुसलमान भाई हमारी यथार्थ तत्त्वपूर्ण, सत्य एवं उपादेय बात को स्वीकृत करने के लिए,—इस बात को मानने के लिए कि भारतीयता के द्वारा ही, अर्थात् संस्कृत शब्द-भंडार के द्वारा हुई अभिव्यक्ति के माध्यम से ही, वह विशुद्ध इस्लाम के तत्त्वों को हृदयंगम करने में समर्थ हो सकेगा—तैयार नहीं हैं। ऐसी

अवस्था में हमारे सामने और कोई मार्ग नहीं है, इसके अतिरिक्त कि हम दोनों भाषाओं को, हिन्दी को और उर्दू को, अपनी राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर लें। इस स्वीकृति से एक लाभ यह होगा कि हिन्दुस्तानी के नाम पर हिन्दी के प्रति जो अन्याय हो रहा है, वह थोडा-बहुत रुक जायगा। दूसरे, हिन्दी और उर्दू, दोनों को अपनी-अपनी इच्छाओं के अनुरूप परिपुष्ट होने का अवसर मिलेगा। आज तो इस हिन्दी-हिन्दुस्तानी के बुद्धि-भेद के कारण हिन्दी का स्वरूप विकृत हो रहा है। और, व्यर्थ में उर्दू-ए-मोअल्ला को हिन्दुस्तानी का छद्म वेश धारण करके जनता के सामने आना पड रहा है।

हमारा अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा हमारे भिन्न-भिन्न प्रान्तस्थ प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अथवा यों कहूँ कि हम हिन्दी-भाषा-भाषी जन, कदापि उर्दू भाषा के विरुद्ध नहीं है। यदि हमारे देश के कुछ निवासी भ्रमवश किंवा प्रमादवश हिन्दी का अर्थात् भारतीय परिपाटी एवं संस्कृति का, विरोध करें तो करें। हम उनकी, भारत के लिए नितान्त अस्वाभाविक, उर्दू का विरोध नहीं करते हैं। हमने तो उर्दू को भी हिन्दी की एक शैली ही माना है और मानते हैं। हम चाहते हैं कि उर्दू फले-फूले। इसी-लिए हमने कहा है कि सब रगडों-झगड़ों को समाप्त करने के लिए उर्दू को भी राष्ट्र-भाषा का स्थान दे दिया जाय। हाँ, इस बात का पक्ष समर्थन हम नहीं कर सकते कि हिन्दुस्तानी के छद्मवेश में उर्दू पनपे। उर्दू अपने वास्तविक, यथार्थ, यथावत् रूप में पनपे, फले और फूले। हिन्दुस्तानी के नाम पर वह हिन्दी के विकास के मार्ग में आडे न आवे, यही हम चाहते हैं।

एक बात और कह दूँ? हिन्दी अमर है, वह हमारी संस्कृति का एक अविच्छेद्य अंग है। जब तक भारतीय जन-गणों के हृदयों में अपनी परम्परा, अपनी सत्य-शिव-सुन्दर संस्कृति एवं अपने उज्ज्वल अतीत के प्रति श्रद्धा, विश्वास एवं आस्था है, जब तक हमारे हृदयों

में बल एवं धैर्य है, जब तक हममें कर्मठता का किंचित्-मात्र भी अंश है, तब तक हिन्दी मर नहीं सकती। मैं तो स्वप्न-दर्शी हूँ। मैं उस भविष्य का स्वप्न देख रहा हूँ, जब भारतीय मुसलमान, अपनी वर्त्तमान अज्ञान-निद्रा को परित्यक्त करके उठ खड़ा होगा और वह देखेगा कि वास्तविक भारतीयता को ग्रहण करने के पश्चात् ही वह सच्चा, अच्छा, मुसलमान बन सकता है। और तब वह 'जय-जय हिन्दी, जय-जय हिन्द' के उद्घोष से दिग्दिगन्त को प्रकंपित करता हुआ भारतीय इतिहास में एक नए अध्याय का प्रारम्भ करेगा। स्मरण रखिये, हिन्दी तो इस देश के हिन्दू-मुसलमानों की संयुक्त, सम्मिलित भाषा है। हमारी हिन्दी केवल सूर और तुलसी ही की नहीं है, वह अब्दुलरहीम ख़ानख़ाना, जायसी, रहीम और रसख़ान की भी है। अतः इस बात को हम सदा स्मरण रखें कि हिन्दी का पत्त समर्थन करते समय हम संकुचित साम्प्रदायिकता को न अपना लें।

◆

: १६ :

# भाषा और संस्कृति

## ( प्रो० गुलाबराय )

भाषा मानवी भावों और विचारों के प्रकाशन का शब्दमय साधन है, गूँगे की सैन और बोलते हुओं के इशारे और भाव-भङ्गियाँ भी सांकेतिक भाषा होने के कारण भाषा के ही अन्तर्गत आयंगी। किन्तु उनका सम्बन्ध भाषा के विस्तृत और कायम अर्थ से है, भाषा का विशेष सम्बन्ध भाषण या बोलने से है; किन्तु इसमें लिखित भाषा भी, जो कि बोली हुई भाषा का अपेक्षाकृत स्थायी चित्र है, सम्मिलित है।

भाषा मनुष्य की सतत वर्धमान परम्परागत सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति अन्य सम्पत्ति की भाँति एकाधिकार की वस्तु नहीं होती वरन् उस पर सार्वजनिक अधिकार रहता है। भाषा के अमित भण्डार पर सब भाषा-भाषियों का समान अधिकार होता है। उसमें से लोग अपनी रुचि, शक्ति और ग्राहकता के अनुकूल सामग्री ग्रहण कर लेते हैं और उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर उसको शैली का रूप प्रदान करते हैं।

यद्यपि भाषा विकास को प्राप्त होती है और उसमें परिवर्तन की शक्तियाँ काम करती रहती हैं, फिर भी वह किसी का मृत या सजीव व्यक्ति की भाँति अपना निजीपन रखती हैं। मनुष्य की प्रकृति की भाँति उसकी भी एक प्रकृति होती है। उसकी शब्दावली, विचार-

परम्पराएँ उसके उपमा, रूपक आदि अलंकार, मुहावरे, व्याकरण, वाक्यों का संगठन आदि सब देश की संस्कृति और वातावरण से सम्बन्धित होते हैं।

कुछ देशी रूढ़ शब्दों को छोड़कर हमारी भाषा के प्रायः सभी तत्सम और तद्भव शब्दों की उत्पत्ति का पता चल जाता है और उनके द्वारा हमको उनके सांस्कृतिक इतिहास की झलक मिल जाती है। भाषा-विज्ञान का एक विशेष विभाग ही इससे सम्बन्ध रखता है।

हमारी भाषा मे गो से बने हुए शब्दो की बहुतायत इस बात का प्रमाण है कि हमारी संस्कृति गो प्रधान है। गवाक्ष (खिड़की) गौ की आँख की तरह शायद पहले गोल होती होगी; अंग्रेजी में एक प्रकार की लालटेन Bulls eye lantern कहलाती है गोष्ठी (गायों के बैठने की जगह अब प्रायः मनुष्यों की ही गोष्ठी होती है।) गवेषणा (गाय खोजने की इच्छा) गोपन (छिपाना; गाय को पालने या रक्षा करने के लिए उसे छिपाकर रखते थे) गुहार (पुकारना; गोहार, कोई गाय को लिये जाता है, इस तरह की पुकार) गोपद (गाय के खुर का गढा; गोपद इव तरई") गोरस, गव्य, गोमय या गोबर (गोबर वैसे भैंसो का भी होता है) गोमूर्तिका (चित्रकाव्य में एक प्रकार की छन्द-रचना) गोधूलि (गौओ के लौटने का सायंकाल का समय; यह बेला विवाह के लिए बहुत शुभ मानी जाती है) गोपुच्छ (गावदुम चीज को कहते हैं) गुरभी (बरोसी या अँगीठी जिस पर गोरस गरम किया जाता है; इस शब्द का प्रयोग बुन्देलखण्ड में अधिक होता है) गोस्तनी (द्राक्षा अंगूर यही गौ के स्तन का-सा होता है) गौदन्ती गोवलिवर्द्ध न्याय आदि-आदि बहुत-से शब्दो का सम्बन्ध गौ से है। ऐसे ही मिली हुई चीज़ को गगा-जमुना कहना पानी की नाँद को गंगाल या गंगालय या जंगाल कहना, गंगा सागर, गंगाजली (सुराही) आदि शब्द हमारी संस्कृति में गंगाजी के मान के द्योतक हैं। कुशल शब्द उसी के लिए प्रयुक्त होता था जिसमें कुश लाने की शक्ति हो, वही

होशियार और स्वस्थ भी समझा जाता था। इसी प्रकार प्रवीण भी वही होता था जो वीणा के बजाने में होशियार हो। ये दोनों शब्द हमारी संस्कृति से सम्बन्धित हैं! दुलहा शब्द दुर्लभ से बना है और इस बात का द्योतक है कि हमारे समाज में वर कितनी मुश्किल से मिलते हैं। दुहिता का भी ऐसा ही इतिहास है। माता-पिता को वे दुहती रहती हैं इसी से वे दुहिता कहलाती हैं। हिन्दू संस्कृति में कन्या को आजीवन देते ही रहते हैं। इसी से शायद उसका पृथक् दाय नहीं किया है। कुछ विद्वानों का खयाल है कि गौ-दोहन का कार्य प्रायः कन्याएँ करती थीं इसलिए वे दुहिता कहलाती हैं।

नापित शब्द का इतिहास उसके गौरव को बढाने वाला नहीं है फिर भी उससे यह ज़रूर विदित होता है कि प्राचीन लोग चौर कर्म में शुद्धता का कितना ध्यान रखते थे। नापित का मूलरूप है स्नापितः, जो निहलाया गया है। चौर कर्म करने से पहले नाई को स्नान कराया जाया जाता था! नाई शब्द चाहे स्वतन्त्र रूप से अरबी का हो जिसका अर्थ है मौत की खबर लेने वाला किन्तु वह नापित से भी बन सकता है। पत्र शब्द बतलाता है कि पहले पत्र भोज या ताड-पत्र पर लिखे जाते थे। शट्टा शब्द पट्टिया से बना है। पहले जमाने में जमीन के अधिकार-पत्र प्राय. ताँबे आदि की पटिया पर लिखकर दिये जाते थे जिससे चिरकाल तक नष्ट न हों। इस प्रकार बहुत-से शब्दों के पीछे इतिहास लगा हुआ है और इस इतिहास में हमारी संस्कृति का इतिहास है। इसीलिए भाषा और शब्दों का इतना महत्त्व है। कवि का जो महत्त्व है वह शायर का नही। वह एकदम कवि को परमात्मा का सगोत्री बना देता है। "कवि प्रणमयानुशासितम्" राजा शब्द का अर्थ है जो प्रसन्नता दे; वह बात बादशाह में नहीं आ सकती। न रानी की सांस्कृतिकता बेगम में है क्योंकि बेगम का सम्बन्ध बेग से है जो मिर्जा लोगों के नाम के आगे लगता है। धोती का सम्बन्ध धोवती अधो वस्त्र से लगाया जाता है लेकिन इसका

सम्बन्ध धौत से भी है। जो धुले वह धोती। यह भी एक स्वच्छता का चित्र उपस्थित कर देती है। पात्र की पवित्रता बरतन में देखने को नहीं मिलती। शायद पहले पत्रों के ही पात्र बनाये जाते हों। पाठक के साथ जो प्राचीनता के सम्बन्ध तन्तु जुड़े हुए हैं वे सबक में नहीं, और न ग्रन्थ पोथी, पुस्तक की बात किताबों में आती है। ग्रन्थ कहते हैं प्राचीनकाल के खुले पत्रों की पुस्तक को,जो डोरे से बाँधी जाती थी और कभी-कभी बीच में छेद करके पत्रों को गाँठ के साथ बाँध लिया जाता है।

शब्दों की भाँति ही हमारे मुहावरे भी हमारी संस्कृति के द्योतक हैं। कुछ मुहावरे तो प्राचीन गाथाओं मे ग्रथित हैं। भगीरथ प्रयत्न गंगा की महत्ता का द्योतक है। दधीचि की हड्डियाँ भारतीय त्याग का आदर्श हमारे सामने ले आती हैं। त्रिशंकु गति दो शक्तियों के संघर्ष में जो एक व्यक्ति के बीच के लटके रहने की गति होती है, उसकी एक सजीव मूर्ति हमारे सामने आ जाती है। सुदामा के तन्दुलों मे एक ओर सुदामा की दीनता और दूसरी ओर कृष्ण की मित्रवत्सलता हमारे सामने आ जाती है। पत्र-पुष्प मे 'पत्रं, पुष्पं, फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति'की याद आ जाती है। विदुर का शाक और शबरी के बेर भगवान् के दीनों के प्रति कृपा भाव के द्योतक हैं। भीष्म की प्रतिज्ञा एकदम दृढ़ता की मूर्ति खड़ी कर देती है।

हर एक देश के मुहावरे वहाँ के वातावरण से तथा वहाँ के लोगों की मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। अंग्रेज़ी मुहावरा 'Killing two birds with one stone' वहाँ के लोगों की शिकारी हिंसात्मक वृत्ति का परिचायक है। हमारे यहाँ इसका शाब्दिक अनुवाद 'एक ढेले में दो पंछी' अवश्य किया गया है किन्तु इसमें वह आनन्द और सरसता नहीं जो 'एक पंथ दो काज' में है। मौन भंग करने के लिए अंग्रेज़ी मे मुहावरा है 'Breaking the ice' ठंडे देश में गरम चीज की जरूरत होती है! बरफ वहाँ शुष्कता और असहृदयता का

द्योतक है; इसलिए वहाँ ( Warm welcome ) होता है किंतु हमारे यहाँ हृदय जुड़ाना या शीतल करने की पुकार होती है।

हमारे साहित्य के उपमा-रूपकादि अलंकरण तथा कवि-समय देश के वातावरण तथा प्रतिष्ठित परम्पराओं से सम्बन्ध रखते हैं। हमारे साहित्य के उपमानों में जो स्थान कमल का है वह और किसी पुष्प का नहीं है। हाथ, मुख, पैर, नैन सभी वस्तुओं का वह एक साथ उपमान बन जाता है। देखिये गोस्वामी जी श्रीरामचन्द्र जी के विभिन्न अंगों की कंज से ही उपमा देते हैं।

'नव कंज लोचन, कंज मुखकर, कंज पद कंजारुणम्'

नेत्रों की उपमा मीन, मृग और खंजन से दी जाती हैं! बालो की भौंरों और सर्पों से उपमा दी जाती है। ओठों की उपमा मूँगा बन्धूक और बिम्बाफल (पके कुँदरू से, जो लाल होता है) से दी जाती है।

हर एक साहित्य की अलग-अलग परम्पराएँ प्रतिष्ठित होती हैं, अनन्यता के लिए चातक को प्रतीक माना गया है। कृषि-प्रधान देश में बादलों का अधिक महत्त्व है इसीलिए तो कालिदास मेघ को दूत बनाकर मेघदूत-जैसा काव्य-ग्रन्थ लिख सके।

उर्दू वालों से हमको उनकी लिपि की शिकायत तो है ही, किंतु उससे बढ़कर शिकायत इस बात की है कि उन्होंने कविता भारत में लिखी है और संस्कृति और परम्परा फारस की अपनाई है। वे गंगा की गैल में मदार के गीत गाते हैं, वे हिमालय के स्थान में कोह-काफ को अपनाते हैं। उनके लिए उदारता का आदर्श है हातिमताई, कर्ण और दधीची का वे नाम भी नहीं लेते। सौन्दर्य को सीमा यूसुफ और जुलेख़ा माने जाते हैं। उर्दू में रति और काम का नाम का भी उल्लेख नहीं होता है, नौशेरवाँ अदल और इन्साफ के प्रतीक माने जाते हैं, रामराज्य का वह स्वप्न भी नहीं देखते हैं। शराब और साकी उनकी कविता के प्रिय विषय हैं, गोपी-ग्वाल और गोरस से वे कोसों दूर रहते हैं। विरह में वे सीख के कबाब की भाँति भुनना पसंद करते हैं, किन्तु

हमारे यहाँ शृङ्गार में वीभत्स का आना एक बे-मेल बात समझी जाती है। नेत्रों की उपमा वे नरगिस, लाला या सौसन से देते हैं, कमल, कुमुद या खञ्जन का उनको ध्यान भी नहीं आता है, हिरन (आहू) की आँखों को वे नहीं भूल सके हैं। आदमी के कद की मुशाहबत वे सर्व या सनोवर से देते है। तमाल का उनको ध्यानभी नहीं आता है। शीरीं-फरहाद या लैला-मजनूँ उनके लिए आदर्श प्रेमी हैं, ऊषा-अनिरुद्ध या राधा-कृष्ण का स्मरण भूल से कर ले तो कर लें, वरना नहीं।

प्रत्येक देश की परम्पराएँ और ख्याल अलग-अलग होते हैं और वे उस देश की भाषा और संस्कृति से सम्बद्ध होती है। इसीलिए हमको जो अपनी भाषा में आनन्द आता है वह दूसरे की भाषा में नहीं आता है। हमारे संस्कार दूसरी भाषा को ग्रहण करने में हमारा साथ नहीं देते हैं। हमको अन्य संस्कृतियों से वैर नहीं है वे भी फूलें-फलें, किन्तु उनके फूलने-फलने के लिए हमारी भाषा व संस्कृति का बलिदान न किया जाय अपना निजत्व खो बैठना अपने को ही दरिद्र बनाना नहीं है, वरन् संसार की सम्पन्नता का अपहरण करना है।

: १७ :

# राष्ट्र-भाषा का संघर्ष

## ( डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त )

हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता का संघर्ष सफलतापूर्वक समाप्त हो गया है, परन्तु खेद है कि राष्ट्र-भाषा के लिए आज भी संघर्ष हो रहा है। हिन्दुस्तानी के बहाने से उर्दू अपने लिए ही नहीं अपनी उस अवैज्ञानिक लिपि के लिए भी हठ करती है जो हमारे किसी भी प्रदेश की शब्दावलि के लिए उपयुक्त नहीं है। कारण कि देश की धार्मिक और आध्यात्मिक भाषा अब भी एक है जिसके शब्द सारे ही प्रान्तो के लिए सहज बोधगम्य है, परन्तु हिन्दुस्तानी उन्हें लेकर उर्दू नहीं रह जाती और इसी के लिए इतना आग्रह किया जाता है।

उर्दू लिपि के पक्ष में कहा जाता है कि उसमें लिखे हुए नाम को कुछ-का-कुछ पढ़कर एक के बदले दूसरा कैदी फाँसी पर कभी नहीं लटका दिया गया, पर इसके राज्य में ऐसा होना असम्भव भी नहीं। काशी के प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता श्री वीरेश्वर अय्यर जेल में वीरेश्वर के बदले न जाने क्या और अय्यर के बदले अहीर से पढे गए थे। भाग्य से वे फाँसी के कैदी न थे, न कोई अहीर बन्दी भी वहाँ था। फारसी लिपि के कारण पद्मावत की कम दुर्दशा नहीं हुई। हिन्दुस्तानी भले ही उस लिपि में चल सके, हिन्दी तो नहीं चल सकती।

कोई आश्चर्य नहीं। यदि प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलालजी

हिन्दुस्तानी बोलते हैं जिस वातावरण में वे पले हैं उसमें वही सम्भव था। भले ही वे उर्दू पढ़े हों या न पढ़े हों, आश्चर्य तो यही है कि वे निःसंकोच कुछ संस्कृत शब्द भी बोल जाते हैं।

कलकत्ता-कांग्रेस में हिन्दी का घोष सुनकर स्वर्गीय मोतीलालजी ने कहा था आप लोग खामोश हो जाइए। नहीं तो मैं ऐसी हिन्दी बोलूँगा कि आप लोग भी न समझेंगे।

ऐसी हिन्दी से क्या आशय है। इसे कहने की आवश्यकता नहीं; वास्तवमें उर्दू जनता से दूर-दूर ही रहती आई है। उसके एक उस्ताद दिल्ली से लखनऊ अथवा लखनऊ से दिल्ली जा रहे थे जो गाड़ी उन्होंने किराए पर की थी, उसका गाडीवान समय काटने के लिए कुछ बात करने लगा। उस्ताद ने एक आध बार हाँ हूँ कर कहा भाई गाड़ी से उतर जाने दे तेरी बातचीत सुनकर मैं अपनी जबान नहीं बिगड़ने दूँगा।

मुसलमानी शासन में अरबी-फारसी के बाद उर्दू उत्पन्न हुई। अंग्रेजों ने भी उसे शासन में बनाए रखा, हिन्दुओं को भी यह गले पड़ी ढोलक बजानी पडी। आजीविका कठिन होती है परंतु सब जानते हैं कि गाँव में उर्दू में लिखा हुआ हुक्मनामा पढने के लिए आदमी ढूँढना कितना कठिन था।

महामान्यवर डाक्टर सप्रू का कहना है कि उर्दू के बनने में हिंदू मुसलमान दोनों का हाथ है। अवश्य होगा, परन्तु उर्दू के आबे-हयात में हिन्दुओं का कोई हिस्सा नही।

कितने ही काश्मीरी हिन्दू उर्दू के बड़े लेखक हुए है यह कोई बडी बात नही। बडी बात नहीं है कि कल्हण और बिल्हण के वंशधर अपना अस्तित्व जैसे-का-तैसा बनाए रख सके।

उर्दू के विपरीत हिन्दी राज्याश्रय के बिना केवल अपने ही बल पर बढती रही है। कहा जाता है उर्दू वर्तमान हिन्दी से पहले की है

परन्तु भारतीय लोकतन्त्र से पहले रहने के कारण ब्रिटिश राजतन्त्र यहाँ रहने का अधिकारी नहीं हो जाता।

सच तो यह है कि ज्यों ही उर्दू ने साहित्य के क्षेत्र में अरबी-फारसी अपनाई, हिन्दी ने उससे अपना अधिकार छीन लिया और 'येन तेन गम्यताम्' कहकर उसे छोड़ दिया।

उर्दू का जन्म यहीं हुआ इस कारण वह भी यहाँ नागरी बन सकती है। परन्तु अपनी सीमा में रहकर उसका शरीर संकर और मन विदेशी है। इस कारण वह हमारी राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। जो लोग उसे प्रोत्साहन देते हैं वे दूसरा पाकिस्तान बनाने जा रहे हैं मुसलमानों की उचित-अनुचित माँगें मानते जाने से ही पहला पाकिस्तान बना है।

जिन्ना साहब का दो राष्ट्रों का विष उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के द्वारा ही फैला और हमारे प्रान्त के मुसलमान ही उसके नशे में पाकिस्तान के लिए सबसे अधिक चिल्लाए, परन्तु अब वह स्वप्न टूट गया है। हिन्दुस्तानी की अन्तिम अंगड़ाई शेष रह गई है। इन्हीं दिनों लखनऊ में हिन्दुस्तानी का एक सम्मेलन हुआ था। सुना है उसके फारसी लिपि के निवेदन पत्र में 'इस्तकबाल' और नागरी लिपि के निमंत्रण-पत्र में 'स्वागत' शब्द का व्यवहार किया गया था। ऐसा करके हिंदुतान वालों ने एक सत्य स्वीकार कर लिया। यह अच्छा ही हुआ।

उचित तो यह है कि हमारे भाई जायसी, रहीम और रसखान की परम्परा बनाए रखें। अपने हाथों उसे नष्ट न कर दें। जिन लोगों ने यहाँ अरबी फारसी और अंग्रेजी अपनाई। वे अपने ही देश की भाषा न छोड़ बैठें। दस बीस सौ संस्कृत के शब्द उनके लिए बहुत नहीं हैं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के लिए जो लाखों पारिभाषिक शब्द बनाने पड़ेंगे वे तो सबके लिए एक समान होंगे वह तो सर्वथा अस्वाभाविक है कि हमारा-देश उनके लिए परमुखापेक्षी हो जिसका

यहाँ अक्षय कोष उपस्थित है और श्याम जैसे अन्य देश भी आज भी जिसके शब्दों का व्यवहार करते हैं।

हिन्दुस्तानी का निर्माण करके जो लोग अपने नेतृत्व की रक्षा करना चाहते हैं वे सोमनाथ के मन्दिर के पुनर्निर्माण पर तो टीका-टिप्पणी कर सकते हैं और यह नहीं कह सकते कि अयोध्या, काशी और मथुरा की वे मस्जिदें लौटा दी जायं जो मन्दिर तोड़कर बनाई गई हैं और यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर रहे हैं कि न उनमें धर्म है, न संस्कृति। तथा जो हाथ उठाकर विजेताओं के बलात्कार की घोषणा वे अवश्य कर रही हैं और बहुसंख्यक जनता को चिढाकर कटुता बनाये चलती हैं।

अरब से ईरान आने पर अल्लाह स्वभावतः खुदा हो गया, परन्तु भारतवर्ष में आकर वह ईश्वर न हुआ इसी एक के न होने में सौ दुष्परिणाम हुए; परन्तु आपस के झगड़े यहाँ न रहे तो हमारे वे नेता कहाँ जायं जिनकी पूछ उन्ही के कारण है!

कुछ भी हो, उनका यह विरोध व्यर्थ होगा। उसे यहाँ भी बड़ी-से-बड़ी जनता का बल प्राप्त है। जिसने उसे राष्ट्र-भाषा के लिए चुना है, प्रान्तों के साथ केन्द्र को भी उसे मानना होगा। हिन्दी अपने लिए पक्षपात नहीं चाहती, न्याय चाहती है। सत्य उसके पक्ष में है; इसलिए जीत भी उसकी निश्चित है। कोई किसी का जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं रोक सकता।

हम अपने अधिकारियों की कठिनाई नहीं बढ़ाना चाहते। अच्छा है, वे स्वयं इसे न बढने दें। लोकतन्त्र में अल्पमत यदि बहुमत पर छा जाना चाहे तो उसे ऐसा नहीं करने दिया जायगा।

◆

: १८ :

# हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा हो

( प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति )

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सामने हिन्दी-हिन्दुस्तानी का विवाद महात्मा गांधी के त्याग-पत्र के रूप में अवतीर्ण हुआ। वह सम्मेलन के लिए बहुत बड़े धर्म-संकट का समय था। एक ओर सिद्धान्त, प्रेम, दूसरी ओर महात्मा गांधी जी के प्रति असीम भक्ति का भाव। दोनों में प्रबल संघर्ष हुआ। अन्त में सिद्धान्त की जीत हुई। सम्मेलन के नेता श्रद्धेय बा० पुरुषोत्तमदास टंडन ने महात्मा जी से यह निवेदन कर दिया कि सम्मेलन हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा के पद का अधिकारी मानता है, हिन्दुस्तानी को नहीं। परिणामतः राष्ट्र-भाषा का आन्दोलन दो शाखाओं में बँट गया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन यथापूर्व राष्ट्र-भाषा के रूप में हिंदी का समर्थन करता रहा और हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा हिन्दुस्तानी का समर्थन तथा प्रचार करने लगी।

भारत के विभाजन ने देश की परिस्थिति को सर्वथा बदल दिया है। जो परिवर्तन हुआ है, वह केवल राजनीतिक नहीं है। वह सर्वांगीण है, क्योंकि उस परिवर्तन का कारण भी केवल राजनीतिक नहीं था, उसका आधार मुख्य रूप से धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक था। राजनीतिक परिवर्तन तो साधन-मात्र था।

विभाजन ने देश में जो नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी, उसका स्थूल

रूप यह था कि सब समस्याओं पर गम्भीर दृष्टि डालने के लिए आँखों पर रंगीन ऐनक लगाने की आवश्यकता नहीं रही। अब भाषा की समस्या का निर्णय करने से पूर्व यह सोचने की आवश्यकता नहीं रही कि इस सम्बन्ध में विदेशी सरकार क्या कहेगी या मि० अब्दुलहक अथवा कायदे-आजम का क्या फतवा होगा ? वे अपना बोरिया-बधना बाँधकर स्वाभिमत स्थानों को चले गए, और हमें अपने हित अहित की बात सोचने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र छोड गए।

(१) हमारे देश की भाषा हिन्दी होनी चाहिए, क्योंकि यह सर्व-सम्मत है कि राष्ट्र-भाषा वह हो सकती है, जिसे देश के अधिक-से-अधिक व्यक्ति समझ सकें। यह भी सर्व-सम्मत है कि देश में हिन्दी भाषा को समझने और बोलने वालो की संख्या अन्य सब भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। युक्त-प्रान्त, बिहार, मध्यप्रदेश, राजपूताना, मालवा जैसे बडे प्रान्तों में जन-साधारण की भाषा हिन्दी ही है। पंजाब, बम्बई, बंगाल आदि प्रान्तो में हिंदी का बहुत व्यापक प्रसार है। महाराष्ट्र और आसाम में भी हिंदी-भाषा द्वारा मनुष्य का काम चल सकता है। अब तो हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तानी-प्रचार-समिति के प्रयत्नों से मद्रास प्रान्त में भी हिदी जानने वालों की संख्या लाखों तक पहुँच चुकी है। हम यदि यह कहे कि भारत के ७५ फीसदी निवासी हिन्दी समझ सकते हैं, और ६० फीसदी निवासी हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बद्ध भाषाएं बोल सकते हैं, तो अत्युक्ति न होगी।

(२) भारत की राजनीति में कृत्रिम साम्प्रदायिकता के प्रवेश से पूर्व हिन्दी, हिन्दू और मुसलमान दोनों की सम्मत भाषा थी। मध्य-काल के अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में उत्तमोत्तम कविताएं की हैं। मलिक मोहम्मद जायसी, शेखअब्दुल वाहिद, बिलग्रामी शेख गदाई, रसखान, रहीम, सूफी कवि उस्मान आदि कवियों के अतिरिक्त

बादशाह अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ और औरंगजेब के पुत्र आजम शाह की हिन्दी कविताएं भी प्राप्त होती हैं।

अनेक मुसलमान बादशाहों ने अपने सिक्कों तथा दान-पत्रों में हिन्दी का प्रयोग किया है।

(३) संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से सम्बद्ध होने के कारण देश की अधिकतर प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का अत्यन्त निकट सहोदर-सम्बन्ध है।

(४) हिन्दी की लिपि देवनागरी है, जो अपने-आपमें परिपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टि से उत्कृष्ट होने के अतिरिक्त बंगाली, मराठी, गुजराती आदि अनेक लिपियों से बहुत अधिक मिलती है। देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता और पूर्णता के विषय में इतना कुछ कहा जा चुका है कि उसे यहाँ दुहराना व्यर्थ है।

(५) हिन्दी के पास साहित्य का ऐसा बहुमूल्य भण्डार है कि उससे किसी भी भाषा का मस्तक ऊँचा हो सकता है। चन्द बरदाई से लेकर आज तक भक्तों, कवियों और गुरुओं ने हिन्दी में जो रचनाएं की हैं, वह सारे देश की बहुमूल्य सम्पत्ति हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक दृष्टि से वर्तमान भारत को १००० वर्ष पुराने भारत से जोड़ने वाली शृङ्खलाएं वह रचनाएं ही हैं। यह कौन नहीं जानता कि तुलसी, सूर, कबीर और मीरा की वाणी सारे मध्यकालीन भारत की वाणी है, केवल किसी एक प्रान्त या सम्प्रदाय की वाणी नहीं। इन तथा अन्य मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने अपने वाङ्मय के रूप में राष्ट्र को जो उपहार दिया है, वह इतना बहुमूल्य और उत्कृष्ट है कि उससे आभूषित हिन्दी भाषा-संसार की किसी भी समकालीन भाषा की प्रतिस्पर्धा में सिर उठाकर खड़ी रह सकती है।

(६) हिन्दी का मूल स्रोत संस्कृत है। हिन्दी को भाव या शब्द जिस वस्तु की भी आवश्यकता हो, वह इसे संस्कृत के अक्षय कोष प्राप्त हो सकता है। हिन्दी के लिए संस्कृत का शब्द-भण्डार खुला

रहने के कारण, उसकी भाव-प्रकाशन की शक्ति असीम है। संस्कृत की सहायता से आपको हिन्दी द्वारा ऊँचे-से-ऊँचे पेचीदा-से-पेचीदा और कोमल-से-कोमल भाव को प्रकाशित करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

(७) हिन्दी की परम्परा भारतीय संस्कृति की परम्परा से ओत-प्रोत है।

वह तो निश्चित सिद्धान्त है कि कोई राष्ट्र अपनी प्राचीन संस्कृति से अलग होकर जीवित नहीं रह सकता। जैसे नींव बिना कोई भवन खड़ा नहीं सकता, इसी प्रकार राष्ट्र भी संस्कृति से पृथक् हो जाय तो अवश्य गिर जायगा।

ये कारण हैं, जो हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा होने का अधिकारी बताते हैं।

इसके विपरीत राष्ट्र-भाषा-पद की दूसरी दावेदार (हिन्दुस्तानी) के दावे की परीक्षा करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि हिन्दुस्तानी भारतकी राष्ट्र-भाषा बनने की योग्यता नहीं रखती, क्योंकि वस्तुतः 'हिंदुस्तानी' नाम की खिचड़ी भाषा भारत के दो-एक जिलों को छोड़कर कहीं भी नहीं बोली जाती। जहाँ बोली जाती है, वहाँ भी वह हिन्दी या उर्दू का ही एक रूप है, अलग कोई भाषा नहीं। उर्दू का राष्ट्र-भाषा होने का दावा पाकिस्तान की स्थापना के साथ ही खारिज हो चुका है। उस दावे के खारिज हो जाने पर ही तो 'हिन्दुस्तानी' के दावे पर बहुत जोर दिया जा रहा है। उर्दू भारत की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य नहीं थी, तो भी भाषा तो थी। हिन्दुस्तानी तो वस्तुतः अलग भाषा ही नहीं है। कोई हिन्दी को हिन्दुस्तानी कह देता है, तो कोई आसान उर्दू को। वस्तुतः उसका अलग कोई अस्तित्व नहीं है।

प्रयाग से एक 'नया हिन्द' नाम का पत्र निकलता है। वह हिन्दुस्तानी भाषा का प्रधान पत्र है। इसके सब लेख देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में छपे होते हैं। उसकी भाषा का नमूना लीजिए—

"तवारीख यानी इतिहास बताता है कि जब भी किसी मुसलमान मुल्क की गैर-मुस्लिम मुल्क से लड़ाई हुई है तो गैर-मुस्लिम मुल्क के मुसलमानों ने अपने देश से विश्वास-घात करके मुसलमान का साथ दिया है।"

इस वाक्य को पढ़िये तो आप को विदित होगा कि इसे 'हिन्दुस्तानी' भाषा का वाक्य बनाने के लिए एक 'विश्वास-घात' शब्द रख दिया गया है, अन्यथा सारा वाक्य उर्दू का ही है। उर्दू भी सुबोध नहीं। यदि लेखक ऐसा न समझता तो यह तवारीख के आगे 'इतिहास' शब्द जुड़कर पैवन्द लगाने का यत्न न करता। यदि यह वाक्य निम्नलिखित रीति से लिखा जाता तो निःसंदेह वह देश के सब प्रांतों में सुगमता से समझा जा सकता था।

"इतिहास बताता है, कि जब किसी मुस्लिम देश की अमुस्लिम देश से लड़ाई हुई है, तो अमुस्लिम देश के मुसलमानों ने अपने देश से विश्वास-घात करके मुसलमान का साथ दिया है।"

यह सरल हिन्दी का वाक्य 'नया हिन्द' की बोझल हिन्दुस्तानी से कहीं अधिक सरल है।

सबसे ताजा दृष्टांत भारतीय-विधान के उस मसविदे का है, जो हिन्दुस्तानी भाषा के गौरव को सिद्ध करने के लिए तैयार किया गया है। वह मसविदा देवनागरी और फारसी, दोनों लिपियों में प्रकाशित हुआ है। उसे पढ़िये। वह तो सीधा उर्दू भाषा का मसविदा है। कहीं-कहीं काली चादर पर हिन्दुस्तानी का नाम सार्थक करने के लिए हिन्दी शब्दों के सफेद फूल टाँक दिये गए हैं, अन्यथा वह तो विधान के अंग्रेजी मसविदे का सीधा उर्दू अनुवाद है। उस मसविदे ने तो सर्वथा स्पष्ट कर दिया है, कि हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न वस्तुतः राष्ट्र-भाषा पद पर बिठानेके प्रयत्न का रूपान्तर ही है। फिर विनोद की बात यह है कि विधान तो 'हिन्द' का है और भाषा 'हिन्दी' न होकर 'हिन्दुस्तानी' बनाई गई है।

हिन्दी के लेखक अपनी हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाने के लिए जो उपाय काम में लाते हैं, वह यह है कि बीच-बीच में उर्दू के कठिनतम शब्दों की गाठें बाँधते जाते हैं। दोनों भाषाओं के बेजोड़ शब्दों का मिश्रण बनाकर हिन्दुस्तानी के नाम से बाजार में सजाया जा रहा है।

हिन्दुस्तानी के पक्ष मे प्रायः यह युक्ति दी जाती है कि वह देश-वासियों के लिए सुगम है। इस युक्ति का उत्तर देने के लिए हिन्दुस्तानी के आचार्य मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के किसी लेख के किसी वाक्यों को पढ़ जाइये, या उनकी तकरीर सुन लीजिए। यदि आप उर्दू के अच्छे विद्वान् न हों तो आप मौलाना के उस अभिप्राय को नहीं समझ सकेंगे।

'हिन्दुस्तानी' नाम से जिस भाषा का प्रचार किया जा रहा है, वह वस्तुतः भारत के किसी प्रान्त या प्रदेश की भाषा नहीं है। यह एक नई घड़न्त है, जो न सरल है, और न सुन्दर है। उसका भारत के अतीत काल से कोई सम्बन्ध नहीं, और न ही किसी काम का साहित्य है। फिर उसकी लिपि भी कोई नही है।

यदि गम्भीरता से विचार करें तो प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानी प्रचार का मुख्य लक्ष्य भारत से विदा होती हुई उर्दू और उसकी लिपि को दीर्घ जीवन प्रदान करना ही है। हिन्दुस्तानी भाषा की न बुनियाद है, न दीवारें। वह एक नई तैयार की हुई छत है, जिसे कुछ देशवासी राष्ट्र के सिर पर रख देना चाहते हैं। इससे देश का कल्याण तो क्या होगा—भाषाओं की यह संघर्षाग्नि, जो हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्र-भाषा मान लेने से समूल नष्ट हो सकती है, चिरकाल तक सुलगती रहेगी, और सम्भव है किसी दिन अत्यन्त प्रचण्ड हो उठे। अन्त में राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी बनेगी ही, कुछ दिनों व्यर्थ का वितण्डावाद और चलता रहेगा, जिससे देश का अनिष्ट ही होगा।

यह सम्भवतः बहुत-से देशवासियों को विदित नहीं कि हमारे

देश के प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू को हिन्दुस्तानी की अपेक्षा हिन्दी शब्द अधिक प्यारा है। आपने इन दोनों शब्दों की तुलना अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Discovery of India में की है। आपने लिखा है—

"आजकल 'हिन्दुस्तानी' शब्द हिन्दुस्तान के निवासी के लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि हिन्दुस्तान से ही हिन्दुस्तानी बना है, परन्तु यह बहुत लम्बा शब्द है, और हिन्दी के समान इस हिन्दुस्तानी शब्द के साथ कोई ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं है। पुरातन भारतीय संस्कृति के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग सचमुच ही, वाहियात, प्रतीत होगा।"

स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान के अन्तिम निर्णय के लिए विधान-परिषद् का महत्त्वपूर्ण अधिवेशन नई दिल्ली में हो रहा है। सदस्यों का बहुत भारी उत्तरदायित्व है। उन्हें भारत की भावी संतानों के भाग्य का निर्णय करना है। अन्य प्रश्नों के साथ यह भी निर्णय करना है कि वह स्वतन्त्र भारत के विधान का निर्माण भारत की संस्कृति की चट्टान पर करना चाहते हैं, या किसी नव-कल्पित मरु-भूमि के धरातल पर? यदि वे प्राचीन के आधार पर भविष्य का निर्माण करना चाहते हैं, यदि वे देश की भारतीयता को जागृत करने वाले उन महापुरुषों के प्रयत्नों को व्यर्थ नहीं कर देना चाहते, जिनमें सबसे अन्तिम, परन्तु अत्यन्त उज्ज्वल नाम महात्मा गांधी का है, तो उन्हें नये विधान का निर्माण करते हुए यह ध्येय सामने रखना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत के भौतिक शरीर में भारतीय संस्कृति रूपी प्राणों का संचार होता रहे।

: १६ :

# भाषा : साहित्य : देश

( आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी )

नाना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएं प्रचलित हैं और इसीलिए इसमें अखण्डता या एकता की कल्पना नही की जा सकती। मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के नाना देशों में भ्रमण कर चुकने वाले कई विद्वानो से सुना है कि तथाकथित एक राष्ट्र व स्वाधीन देशों में भी दर्जनो भाषाएं हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना में नगण्य है। परन्तु अन्य देशों में यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्या का समाधान नहीं हो जाता। दूसरों की आँख में खराबी सिद्ध कर देने से हमारी आँख मे दृष्टि-शक्ति नहीं आ जायगी! फिर भी मैं आपको स्मरण कराना चाहता हूँ कि हमारे इस देश ने हज़ारों वर्ष पहले से भाषा की समस्या हल कर ली थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ रक्षणीय है वह इस भाषा के भण्डार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे ले जा सकता है उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा और कोई सहारा नहीं है। इस भाषा मे साहित्य की रचना

कम-से-कम छः हज़ार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन ने भारतवर्ष के हज़ारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं। और आज भी लगे हुए हैं। मै नही जानता कि संसार के किसी देश मे इतने काल, तक, इतनी दूर तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचरण करने वाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है।

विदेशियों के झुण्ड बराबर इस देश में आते रहे हैं और आकर इन्होंने बडी जल्दी सीख लिया है कि संस्कृत भाषा ही इस देश में उनके काम की भाषा हो सकती है। यह आश्चर्य की बात कही जाती है कि संस्कृत भाषा का सबसे पुराना शिला-लेख जो अब तक पाया गया है वह गिरनार वाला शक महाक्षत्र रुद्रदामा का शिला-लेख है जो सन् ईसवी के लगभग डेढ़-सौ वर्ष बाद खुदवाया गया था। इस शिला-लेख ने उस भ्रम का निराकरण कर दिया है कि जो ऐतिहासिक पंडितों द्वारा प्रचारित किया गया था कि संस्कृत का अभ्युत्थान बहुत शताब्दियों बाद गुप्त सम्राटों के हाथों हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुप्त सम्राटों के युग से संस्कृत भाषा ज्यादा वेग से चल पड़ी थी, परन्तु यह नितान्त गलत बात है कि उससे पहले उसकी (संस्कृत भाषा की) धारा एकदम रुद्ध हो गई थी।

शुरू-शुरू में मुसलमान बादशाह भी इस भाषा की महिमा हृदयंगम कर सके थे। पठानों के सिक्कों से नागरी अक्षरों का ही नहीं संस्कृत भाषा का भी अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु बाद में जमाने ने पलटा खाया और अदालतों और राज-कार्य की भाषा फारसी हो गई। इस देश के एक बडे समुदाय ने नाना कारणों से मुसलमानी धर्म को वरण किया और फलत. एक बहुत बडे सम्प्रदाय की धर्म-भाषा अरबी हो गई। यह अवस्था अधिक-से-अधिक चार-पाँच सौ वर्ष तक रही है। परन्तु आप भूल न जायं कि इस समय भी भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिन्ता का स्रोत संस्कृत के ही रास्ते बह रहा था। नाना शास्त्र-ग्रन्थों

की अनुतनीय टीकाएं, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के निबन्ध-ग्रन्थ, दर्शन और अध्यात्म विषयक अनुवाद और टीका-ग्रन्थ, और सबसे अधिक नव्य-न्याय और न्यायानुप्राणित व्याकरण शास्त्र इसी काल में लिखे जाते रहे। इस युग में यद्यपि संस्कृति ग्रन्थों में से मौलिक चिन्ता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गई थी। कुछ शताब्दियों तक भारतवर्ष एक विचित्र अवस्था में से गुज़रा है। उसके न्याय, राजनीति और व्यवहार की भाषा फारसी रही है, हृदय की भाषा तत्तत् प्रदेशों की भाषाएँ रही हैं और मस्तिष्क की भाषा संस्कृत रही है। हृदय की भाषा बराबर किसी-न-किसी रूप में देशी भाषाएं रही हैं। यह और बात है कि दूर पड़ जाने से पिछले हज़ारों वर्षों का देशी भाषा का साहित्य आज हम न पा सके, पर वह वर्तमान जरूर रहा है और उसका सम्मान भी हुआ है। मैं आज इस बात की चर्चा नहीं करूँगा। मैंने अन्यत्र सप्रमाण दिखाया है कि इस देश में सदा काव्य लिखे जाते रहे हैं। सिर्फ यही बात नहीं है बल्कि उनका भरपूर सम्मान भी बराबर होता रहा है।

एक बार मेरे इस कथन को संक्षेप में आप अपने सामने रखकर देखें तो हमारी वर्तमान भाषा-समस्या काफी स्पष्ट हो जायगी। मैंने अब तक जो आपको प्राचीनकाल के खँडहरों में भटकाया वह इसी उद्देश्य से। संक्षेप मे इस प्रकार है कि—

(१) भारतवर्ष के दर्शन-विज्ञान आदि की भाषा सदा संस्कृत रही है।

(२) उसके धर्म-प्रचार की भाषा अधिकांश में संस्कृत रही है, यद्यपि बीच-बीच में साहित्य के रूप में और सदैव बोल-चाल के रूप में देशी भाषाएँ भी इस प्रयोजन के लिए काम में लाई जाती रही हैं।

(३) आज से चार-पाँच-सौ वर्ष पहले तक व्यवहार, न्याय और राजनीति की भाषा भी संस्कृत ही रही है। पिछले चार

पाँच-सौ वर्षों से ही विदेशी भाषा ने इस क्षेत्र को दखल किया है।

(४) काव्य के लिए सदा से ही कथ्य देशी भाषाएँ काम में लाई गई है और संस्कृत भी सदा इस कार्य के उपयुक्त मानी गई है।

अब अगर आप ध्यानपूर्वक देखे तो हमारे हजारों वर्ष के इतिहास ने हमारी भाषा-समस्या को इस प्रकार सुलझाया है कि हमारे उच्चतर विचार, तर्क, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, व्यवहार और हमारे न्याय की भाषा का सदा एक सामान्य स्टैण्डर्ड रहा है और हमारे इतिहास के एक अत्यन्त सीमित काल में हमारी भाषा के विशाल साहित्य के एक अत्यन्त नगण्य अंश पर विदेशी भाषा का आधिपत्य रहा है। अर्थात् हमारे कम-से-कम छः-सात हजार के विशाल इतिहास में अधिक-से-अधिक पाँच-सौ वर्ष ऐसे रहे हैं जिनमें अदालतों की भाषा संस्कृत न होकर एक विदेशी भाषा रही है। दुर्भाग्यवश इस सीमित काल और सीमित अंश में व्यवहृत भाषा का दावा आज हमारी भाषा-समस्या का सर्वाधिक जबर्दस्त रोड़ा साबित हो रहा है। पर यह एक सामयिक बात है। आज यह जितनी बड़ी बाधा के रूप में भी क्यो न दीख रही हो, इतिहास की विशाल पट-भूमिका पर इसे रखकर देखिए तो इसमें कुछ तत्त्व नहीं रह जायगा। यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जितनी आपाततः दीख रही है। इस विशाल देश की भाषा-समस्या का हल आज से सहस्रों वर्ष पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के ज़रिये हुआ है, उसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती—फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के मानने वालों की हो या उस धर्म के। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है—अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष।

आज से डेढ़ दो-सौ वर्ष पहले तक यही अवस्था रही है। इसके

बाद नवीन युग शुरू होता है। जमाने के अनिवार्य तरंगाघातों ने हमें एक दूसरे किनारे पर लाकर पटक दिया है। दुनिया बदल गई, और और भी तेजी से बदलती जा रही है। अंग्रेजी-साम्राज्य ने हमारी सारी परंपरा को तोड़ दिया है। इन डेढ-सौ वर्षों में हम इतने बदल गए—सारी दुनिया ही इतनी बदल गई है कि पुराने जमाने का कोई पूर्वज हमें शायद ही पहचान सकेगा। हमारी शिक्षा-दीक्षा से लेकर विचार-वितर्क की भाषा भी विदेशी हो गई है। हमारे चुने हुए मनीषी अंग्रेजी भाषा में शिक्षा पाये हुए हैं, उसी में बोलते रहे हैं और उसी में लिखते रहे हैं। अंगरेजी भाषा ने संस्कृत का सर्वाधिकार छीन लिया है। आज भारतीय विद्याओं की जैसी विवेचना और विचार अंगरेजी भाषा में है उसकी आधी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। यह हमारी सबसे बड़ा पराजय है। राजनीतिक सत्ता के छिन जाने से हम उतने नतमस्तक नहीं हैं जितने कि अपने विचार की, तर्क की, दर्शन की, अध्यात्म की और सर्वस्व की भाषा के छिन जाने से। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हम अपनी ही विद्या को अपनी बोली में न कह सकने के उपहासास्पद अपराधी हैं। यह लज्जा हमारी जातीय लज्जा है। देश का स्वाभिमानी हृदय इस असह्य अवस्था को अधिक बर्दाश्त नहीं कर सकता।

अब हम संस्कृत को फिर से नहीं पा सकते। अगर बीच में ही अंगरेजी ने आकर हमारी परंपरा को बुरी तरह तोड न भी दिया होता तो भी आज हम संस्कृत को छोड़ने को बाध्य होते, क्योंकि वह जन-साधारण की भाषा नहीं हो सकती। जिन दिनों एक विशेष श्रेणी के लोग ही ज्ञान-चर्चा का भार स्वीकार करते थे, उन दिनो भी यह कठिन और दुःसह थी। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदल गए हैं, हमारी दुनिया पलट गई है, हमारे पुराने विश्वास हिल गए हैं, हमारी ऐहिकता बढ़ गई है और हमारे वे दिन अब हमेशा के लिए चले गए। भवभूति के राम की भाँति हम भी अब यह कहने को

लाचार हैं कि 'ते हि नो दिवसा गताः'—अब वे हमारे दिन नहीं रहे।

अफसोस करना बेकार है। हम जहाँ आ पड़े हैं वहीं से हमें यात्रा शुरू करनी है। काल-धर्म हमें पीछे नहीं लौटने देगा। हमें अपने को और अपनी दुनिया को समझने में अपने हजारों वर्षों के इतिहास का अनुभव प्राप्त है। हम इस दुनिया में नये नहीं हैं, नौसिखिए नहीं हैं। अपने संस्कारों और अनुभवों के लिए हमें गर्व है। ये हमें अपने को और अपनी दुनिया को समझने में सहायता पहुँचायंगे। हमे याद रखना चाहिए कि अनुभव और संस्कार तभी वरदान होते हैं जब वे हमें आगे ठेल सकें, कर्मशील बना सकें। निठल्ले का अनुभव उसे खा जाता है और संस्कार उसे और भी अपाहिज बना देता है।

हमारा पुराना अनुभव बताता है कि हम आसेतु-हिमाचल एक भाषा से एक संस्कार, एक विचार, एक मनोवृत्ति तैयार कर सकते हैं। और वह एक भाषा संस्कृत है। हमारी नई परिस्थिति बता रही है कि शास्त्रों की चर्चा से मुक्ति या परलोक बनाने वाला आदर्श अब नहीं आ सकता। "एकः सम्यग् शब्दः ज्ञातः"—अर्थात् 'एक भी शब्द भली-भाँति जान लिया जाय तो स्वर्गलोक में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो जाता है' का आदर्श इस काल में नहीं टिक सकता; जब कि प्रत्येक कार्य में हड़बड़ी और जल्दी-से-जल्दी की भावना काम कर रही है। हमें एक ऐसी भाषा चुन लेनी है जो हमारी हजारों वर्षों की परंपराओं से कम-से-कम विच्छिन्न हो और हमारी नूतन परिस्थिति का सामना अधिक-से-अधिक मुस्तैदी से कर सकती हो; संस्कृत न होकर भी संस्कृति-सी हो और साथ ही जो प्रत्येक नये विचार को, प्रत्येक नई भावना को अपना लेने में एकदम हिचकिचाती न हो—जो प्राचीन परंपरा की उत्तराधिकारिणी भी और नवीन चिन्ता की प्रवाहिका

चूँकि वर्तमान युग में मनुष्यता की प्रधानता समान भाव से स्वीकार कर ली गई है, इसलिए उसी को दृष्टि में रखकर इस समस्या को भी हल किया जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्य की सुविधा की दृष्टि से सहज-सरल देशी भाषाओं को प्रोत्साहित किया गया है। उसी प्रकान बृहत्तर देश के विराट मानव-समुदाय को दृष्टि में रखकर सामान्य भाषा की समस्या भी हल की जाती रही है। अधिकांश मनुष्य जिस भाषा में बोल सकते हों; अधिकांश मनुष्यों की नाडी के साथ जिस भाषा का अच्छेद्य सम्बन्ध हो, वह भाषा क्या है? आपसे कहने की आवश्यकता नहीं। आपने अपने ढंग से उसका उत्तर खोज लिया है।

मै आपको संस्कृत की याद फिर दिलाता हूँ। हिन्दी या हिन्दुस्तानी हमारी अधिक जनों की समझ मे आने वाली अधिक प्रचलित भाषा जरूर है पर संस्कृत ने हमारे सर्व देश की भाषा पर जो अपना अनुत्सारणीय ( न हटाया जा सकने वाला ) प्रभाव डाला है, वह कम नही है। हम हजार संस्कृत की परंपरा से च्युत हो गए हो और उस भाषा तथा उसके विशाल साहित्य को भूल गए हो; पर वह हमसे दूर नही हो सकती। हमने चाहे कमली को छोड़ दिया हो, पर कमली हमें नहीं छोड सकती। संस्कृत ने हममें अब भी चौदह आना एकता कायम कर रखी है। नये सिरे से हमे दो आना ही प्रयत्न करना है। वस्तुतः हिन्दी और अन्यान्य भारतीय भाषाओ मे १४ आना ही साम्य है। दो आना ही हमें इसमें नये सिरे से गढना है। यह आप कर रहे हैं।

मैं भाषा के संस्कृत बनाने की वकालत नहीं कर रहा हूँ मैं चाहता हूँ कि पिछले हजारों वर्षों के इतिहास ने हमें जो कुछ दिया है, उससे हम सबक सीखे! हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि हम विदेशी शब्दों का बहिष्कार करें। मगर आपने इसका यह अर्थ समझा हो तो मैंने कहीं अपनी बात उपस्थित करने में गलती की होगी। मै ऐसा कैसे

कह सकता हूँ जब कि हमारी श्रद्धेय संस्कृत भाषा ने ही विदेशी शब्दों को ग्रहण करने का रास्ता दिखाया है। हमारे संस्कृत-साहित्य में होरा, द्रेक्काण, अपोक्लिम, पणफर, कौर्प्य, जूक, लेय, हेलि आदि दर्जनों ग्रीक शब्द व्यवहृत हुए हैं। ये ग्रीक शब्दों के संस्कृतवत् रूप हैं, परन्तु संस्कृत में इतने अधिक प्रचलित हो गए हैं कि कोई संस्कृत का पंडित इनकी शुद्धता में तनिक भी संदेह नहीं करता। कम-से-कम एक कोडी ( २० ) ग्रीक शब्द मैं आपको ऐसे दे सकता हूँ कि जिनका व्यवहार धर्म-शास्त्रीय व्यवस्था देने वाले ग्रन्थों में होता है। ज्योतिष के ताजक-शास्त्र ( वर्षफल, मासफल आदि बतलाने वाला ज्योतिष-शास्त्र का एक अंग ) के योगों के नाम में बीसियों अरबी शब्द मिलेंगे। ताजक-नीलकंठी ( एक ज्योतिष-ग्रन्थ ) से यदि मैं एक श्लोक पढ़ूँ तो आप शायद समझेंगे कि मैं कुरान की आयत पढ़ रहा हूँः—

'खल्लासरं रहमथो दुफालिः कुत्थं तदुत्थोत्थ दिवीर नामा।'

और

'स्यादिक्कवाल. इशराफ योगः'—इत्यादि

रमल ('रमल' नामक ज्योतिष विद्या) के ग्रन्थों मे कोडियों (बीसों) अरबी और फारसी के शब्द व्यवहृत हुए हैं। एक श्लोक मे 'तारीख' शब्द का ऐसा व्यवहार किया गया है मानो वह पाणिनि का ही शब्द है—'तारीखे च त्रितये त्रयोदशे' सुलतान शब्द का 'सुरत्राण' रूप संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों में ही नहीं मुसलमान बादशाहों के सिक्कों पर भी पाया जाता है। पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में एक जगह मसजिद को 'मसीति' बनाकर ही प्रयोग नहीं किया गया है, अनुप्रास के साँचे में ढालकर "अशीतिर्मसीति" कहकर उसमें सुकुमारता भी लाई गई है, नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आप विदेशी शब्दों को निकालना शुरू करें। मुझे गर्व है कि आपने आज जिस भाषा को अपने लिए सामान्य-भाषा के रूप में वरण किया है, उसने उर्दू के रूप में इतने

विदेशी शब्दों को हजम किया है कि वह संसार की समस्त विदेशी भाषाओं को पाचन-शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता में पीछे छोड़ गई है। प्रचलित शब्दों का त्याग करना मूर्खता है; पर मैं साथ ही जोर देकर कहता हूँ कि किसी विदेशी भाषा के शब्दों के आ जाने-भर से वह विदेशी भाषा संस्कृत के साथ बराबरी का दावा नहीं कर सकती। वह हमारे नवीन भावों के प्रकाशन के लिए संस्कृत के शब्दों को गढ़ने से हमें नहीं रोक सकती। प्रचलित शब्दों को विदेशी कहकर त्याग देना मूर्खता है; पर किसी भाषा के शब्दों का प्रचलन देखकर अपनी हजारों वर्ष की इस परम्परा की उपेक्षा करना आत्म-घात है संस्कृत ने भिन्न भिन्न भाषाओं से हजारों शब्द लिये हैं, पर उन्हें संस्कृत बनाकर। हम अब भी विदेशी शब्दों को लें तो उन्हें भारतीय बनाकर इस देश के उच्चारण और वाक्य-रचना-परम्परा के अनुकूल बनाकर।

मगर यह तो मै अवान्तर बात कह गया। मै मूल प्रश्न पर फिर आ रहा हूँ। इस युग का मुख्य उद्देश्य मनुष्य है। इस युग का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि विज्ञान की सहायता से जहाँ बाह्य भौगोलिक बंधन तड़ातड़ टूट गए हैं वहाँ मानसिक संकीर्णता दूर नहीं हुई है। हम एक दूसरे को पहचानते नहीं। कीजिए। ऐसा कीजिए कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को समझ सके। एक धर्म वाले दूसरे धर्म वाले की कद्र कर सकें। एक प्रदेशवाले दूसरे प्रदेशवाले के अन्तर में प्रवेश कर सकें। ऐसा कीजिए कि इस सामान्य माध्यम के द्वारा आप सारे देश में एक आशा, एक उमंग और एक उत्साह भर सकें। और फिर ऐसा कीजिए कि हम इस पावन भाषा के ज़रिये इस देश की, इस काल की और अन्य कालों की समूची ज्ञान-सम्पत्ति आपस में विनिमय कर सकें।

: २० :

# भाषा की एकता

## ( आचार्य क्षितिमोहन सेन )

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के हेतु अनेक अनुष्ठान हुए। और उनको मैं संस्कृति का राजसूय-यज्ञ समझता हूँ। राजसूय-यज्ञ में नाना प्रदेश से नाना भाँति का उपहार आना आवश्यक होता है। इसके बिना राजसूय-यज्ञ नहीं हो सकता। परिणाम स्वरूप कर्नाटक, महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात, मलबार, उत्तर-भारत आदि नाना प्रदेशों के सुधीजन इसके लिए त्याग व परिश्रम कर रहे हैं। परन्तु इस त्याग को अपनाने का पात्र कहाँ है? इस सांस्कृतिक त्याग का पात्र है भाषा। सब ही उसी वाङ्मय-पात्र की रचना में दत्त-चित्त हैं। बिना इस वाङ्मय-पात्र के राजसूय सफल नहीं होगा। आदर्श और साधना की एकता मनुष्य को एकता जरूर देती है; परन्तु भाषा की भिन्नता मनुष्य की इस एकता को जाग्रत नहीं होने देती। यूरोपीय प्राचीन कथा में सुना जाता है कि भाषा की भिन्नता के कारण ही 'टावर ऑफ बैबल' टूट पड़ा था, और वही मनुष्य, जो इस महती साधना के लिए दिन-रात एक कर रहे थे, भाषा की भिन्नता के कारण आपस में ही लड़ने लगे थे और उन्होंने अपनी ही निर्माण की हुई वस्तु को स्वयं ही गिरा दिया था।

किन्तु भाषा यद्यपि एकता का प्रधान वाहन है, परन्तु वही एक

मात्र ऐक्य-विधायक उपादान नहीं है। और भी वस्तुएँ हैं जो एकता को बनाये रखने में या नष्ट कर देने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। इतिहास में एक भाषा-भाषी लोगों का झगड़ना दुर्लभ घटना नहीं है। अमेरिका और इंग्लैंड में जो लड़ाई हुई थी वह भी एक ही भाषा के होते हुए भी। महाभारत की लड़ाई क्या भिन्न भाषा-भाषियों में हुई थी? हमें भाषा की साधना करते समय इन अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को भूल नहीं जाना चाहिए। आज अगर आप खुली नज़रों से देखें तो आपको इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जायगा कि एक भाषा की आवाज़ उठाते हुए भी हममें प्रादेशिकता और साम्प्रदायिकता प्रवेश कर रही है और दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ भी रही है। क्योंकि भाषा ही एक-मात्र एकता का हेतु नहीं है, और भी बहुत-सी बातें हैं। उनकी उपेक्षा करने से हम 'एक भाषा' की प्रतिष्ठा करने में भी पद-पद पर बाधा अनुभव करेंगे। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण सेतु है। भाषा की सहायता के बिना हम अपने अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति को भी नहीं बुला सकते।

सभ्यताओं के इतिहास के अध्येताओं ने लक्ष्य किया है कि प्रायः प्रत्येक प्राचीन सभ्यता एक-एक नदी को आश्रय करके विकसित हुई है। ठीक भी है। नदी अपने प्रवाह से नाना प्रदेशों को युक्त करती है किन्तु भाषा और भी जबर्दस्त योग-विधायक है। नदी तो केवल बाह्य सभ्यता के विकास में सहायता पहुँचाती है, परन्तु भाषा तो जीवन्त प्रवाह है जो अन्तर-अन्तर में योग-स्थापन करती है। यहाँ भाषा से मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि जिस किसी ज़माने की भाषा या जिस किसी देश की भाषा योग-स्थापन का कार्य करती हैं, नहीं; योग-विधायिनी भाषा वही हो सकती है जो सर्वसाधारण की अपनी हो, अपने काल की और अपने देश की। कबीरदास ने भाषा अर्थात् बोली जाने वाली भाषा की इसीलिए 'बहते नीर' से उपमा दी है और संस्कृत की 'कूप जल' से—

'संस्कृत कूप जल कबीरा, भाषा बहता नीर'

आज हम केवल राजनीतिक दासता के बन्धन से ही जकड़े हों, ऐसी बात नहीं है। इससे भी भयंकर बन्धन हमारे अपने तैयार किये हैं जो भीतर के भी हैं, बाहर के भी। हमें उन सबसे मुक्त होना है। अपनी इस मुक्ति के लिए हमें उपयुक्त तीर्थ-स्थान खोज निकालना होगा। जहाँ दो नदियों का समागम होता है वह संगम-क्षेत्र इस देश में बहुत पवित्र माना जाता है; जहाँ और भी अधिक नदियों का संगम हो वह तीर्थ और भी श्रेष्ठ होता है। तीन नदियों के संगम से प्रयाग का माहात्म्य इतना अधिक है कि वह तीर्थराज कहलाता है। काशी में छोटे-छोटे नालों के संगम का भी जहाँ अधिक समावेश हुआ है, उस पवित्र पंचगंगा घाट को अशेष—पुण्यदाता माना गया है। अपनी मुक्ति के लिए भी हमें साधनाओं और संगम का तट ढूँढ निकालना होगा। भाषा को केवल भाषा मानकर हम चुप नहीं रह सकते। हमें उसे संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं का महान् संगम-तीर्थ बना देना होगा। अंग्रेजी भाषा की महिमा इसलिए नहीं है कि वह हमारे मालिकों की भाषा थी, बल्कि इसलिए कि उसने संसार की समस्त विद्याओं को आत्मसात् किया है। अंग्रेज चले गए हैं फिर भी अंग्रेजी का आदर ऐसा ही बना रहेगा। हिन्दी को भी यही होना है। उसे भी नाना संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं की त्रिवेणी बनना होगा। बिना ऐसा बने भाषा की साधना अधूरी रह जायगी। आप लोग जो आज इस साधना के लिए व्रती हुए हैं, यह बात न भूलें। भाषा हमारे लिए साधन है, साध्य नहीं; मार्ग है, गन्तव्य नहीं; आधार है, आधेय नहीं।

बुतपरस्ती को छोड़ना सहज नहीं है। कभी-कभी वह नाना छद्म-वेष धारण करके हमारे बीच बनी रहती है। और यद्यपि हम हल्ला-गुल्ला करके औरों की बुतपरस्ती दूर करने का अभिमान करते हैं, फिर

भी वह हमारे पीछे लगी ही रहती है। कभी-कभी हम देव की पूजा न करके देहर (मूर्ति के घर) की पूजा करने लगते हैं। आधेय को भूलकर आधार की पूजा कुछ ऐसी ही है। जितना बड़ा भी प्रेमी हो, वह यदि रोज एक लिफाफा भेजे, चिट्ठी नहीं, तो प्रेमिका का धैर्य कब तक टिका रह सकता है? और फिर यदि यह लिफाफा बैरिंग हो तब तो कहना ही क्या है? कब तक कोई सिर्फ इस बात से सन्तोष कर सकता है कि लिफाफा प्यारे के हाथ का भेजा हुआ है! कुछ पत्र भी तो हो कुछ समाचार, कुछ प्रेम-सम्भाषण, कुछ नई जानकारी। भाषा महज एक लिफाफा है। सो भी बैरिंग, क्योंकि इसे पाने के लिए परिश्रम खर्च करना पड़ता है। उसमें का पत्र और उसमें लिखा हुआ साहित्य, विज्ञान सम्बन्धी सत्य है। हमें लिफाफे का ध्यान भी जरूर रखना चाहिए, क्योंकि वही प्रेम-पत्र को सुरक्षित रूप से पहुँचाता है पर पत्र की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम हिन्दी-भाषा को नाना शास्त्रों और विद्याओं से भर दें।

एक तरह लोग जो उन्हीं बातों मे सत्य का स्पर्श अनुभव करते हैं, जो सुदूर-काल में कही गई थीं—इन्हे सनातनी कहते हैं। एक और तरह के लोग हैं जो दूर देश में कही गई बातों को ही प्रामाणिक मानते हैं—इन्हें क्या कहते हैं, मालूम नहीं। पर ये दोनों हैं—एक ही जाति के। एक काल-गत सनातनी है, दूसरे देश-गत। परन्तु सत्य वस्तुतः सब काल का है और सब देश का। इसीलिए जो जिस श्रद्धा का पात्र है, वह स्वदेशी हो या विदेशी, आज का हो या प्राचीन काल का, हमें उसे वह श्रद्धा देनी ही चाहिए। हमारे इस अनुष्ठान में हमें प्राचीन और नवीन, इस देश की और अन्य देश की समस्त विद्याओं को निःसंकोच स्वीकार करना होगा। तभी हम उसे महान् बना सकेंगे। यदि यहाँ हमने किसी प्रकार की स्थान-गत या काल-गत संकीर्णता को मन मे आने दिया तो यद्यपि हम कुछ लोगों से वाहवाही पा सकेंगे, परन्तु वह सांस्कृतिक आत्म-घात ही सिद्ध होगा। ऐसा देखा गया है

कि पृथ्वी के नाना भाँति के आत्म-घातों मे वाहवाही भी मिलती है परन्तु अन्ततोगत्वा आत्म-घात—आत्म-घात ही है।

आपको शायद आश्चर्य हो रहा होगा मैं ऐसी ऐसी अशुभ बात क्यों कह रहा हूँ। कह तो रहा हूँ, परन्तु मानसिक दुःख से। हम मुँह से जितना भी 'स्वाधीनता' आदि नाम क्यों न लें, भीतर से हमारे अन्दर आदिम युग की तानाशाही—पूजा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसीलिए हम किसी विशेष काल या विशेष देश को अपना डिक्टेटर मान लेते हैं और उसकी पूजा करने लगते हैं। जब इस युग में मैं मनु की व्यवस्थाओं को शासन करते देखता हूँ, या इस देश में यूरोप के आदर्शों की पूजा होते देखता हूँ, तो बरबस मुझे यह बात याद आ जाती है। इसीलिए कहता हूँ कि हिन्दी-भाषा में जिस साहित्य का हम निर्माण करें उसमें इस विशेष पूजा के अभ्यासी न हो जायं। आप मुझे ग़लत न समझे। मैं न तो मनु का ही कम आदर करता हूँ, और न योरोपीय आदर्शों का ही। मेरा विरोध किसी बात को एक-मात्र प्रमाण मान लेने से है।

बहुत-से लोगों की भाँति मै यह नहीं मानता कि समस्त काल और समस्त देश के साथ हम समान भाव से साम्य की रक्षा नहीं कर सकते। एक मामूली अशिक्षित बालिका भी एक ही साथ अपने पिता के प्रति आदर भाव रख सकती है और साथ ही अपने पति के प्रति भी। पिता के प्रति आदर और प्रेम होना किसी प्रकार उसके पति-प्रेम में बाधक नहीं होता और न ये दोनो बातें उसके भावी पुत्र-प्रेम में विघ्न-रूप हो उठती हैं। एक सामान्य बालिका भी आसानी से अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति अपना कर्तव्य निबाह ले जाती है। वनस्पति के बीज को देखिए। कितनी पीढियों की परम्परा लेकर वह आया है और भविष्य में भी न जाने कितनी परम्पराओ को वह उत्पन्न करेगा। यह ग़लत बात है कि हम सर्व देश और सर्व काल के प्रति अपना कर्तव्य पालन नहीं कर सकते।

यह मानव-मानव के प्रति जो योग है वह इतनी बड़ी चीज़ है कि मनुष्य ने अपनी इस सर्वोत्तम साधना का नाम ही दिया है—साहित्य (सहित का भाव)। यह साहित्य की मुख्य वस्तु है। भाषा तो उसका आधार-पात्र भर ही है। इसी भाषा और साहित्य के बल पर मनुष्य ज्ञान, कर्म और संस्कृति में पशु को बहुत पीछे छोड गया है। क्योंकि इसी के द्वारा उसका योग समस्त काल और समस्त देश से स्थापित हो सका है। भाषा और साहित्य को स्वीकार न करना उस महान् योग को ही अस्वीकार करना है। इतना बड़ा आत्म-घाती विद्रोह और कुछ नहीं है।

हमारे बृहत्तर जीवन में योग-साधन का कार्य करती है भाषा, उसी प्रकार जिस तरह गृह-परिवार के जीवन माता में योग-स्थापन करती है। क्योंकि बच्चों में आपसी झगडे-टंटे कितने भी क्यों न हों, वे स्नेहमयी माँ की गोद में बैठकर सभी द्वन्द्व और झगड़े भूल जाते हैं। जिस प्रकार सच्ची माता सन्तानों के भेद-विभेद बिना दूर किये नहीं रह सकती, उसी प्रकार सच्ची भाषा और सच्चा साहित्य भी अपनी सन्तान का भेद-विभेद दूर किये बिना नहीं रह सकता। भाषा और साहित्य का स्थान भी माता का-सा ही है।

आप कहेंगे कि माता भी कभी मिथ्या होती है? माँ तो सदा सच्ची ही होती है। हमारे देश मे जिस भाषा को माता कहा गया है, उस मातृ-भाषा की गोद में ही तो हम सबने जन्म लिया है। उसी माता ने हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि की है। वह माता मिथ्या कैसे हो सकती है? वस्तुतः जब वह माता हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि करती रहती है तब सच्ची ही होती है; किन्तु जब हम उस माता की सृष्टि करने का ध्यान करने लगते हैं तो वह निश्चय ही मिथ्या हो उठती है। माता को सन्तान नानाविध अलंकारों और महनीय वस्त्रों से अलंकृत करें—यह तो उचित है; बल्कि सन्तान का यह कर्तव्य ही है कि माता को अधिकाधिक समृद्ध और तृप्त करता

रहे पर स्वयं वह माता को ही बनाने लगे, यह तो एकदम समझ में आने वाली बात नहीं है। हम भाषारूपी माता को अनेक भावों से—कला-साहित्य-विज्ञान-से—समृद्ध और अलंकृत कर सकते हैं पर उसे काट-छाँट, गढ-छोल कर नई माता बनाने का प्रयत्न करना नितान्त दम्भ-मात्र है।

किन्तु हमने माता को मिथ्या बनाना शुरू कर दिया है। प्रमाण यह है कि हम मुँह से तो एक ही माता की बात कहते जा रहे हैं; परन्तु वस्तुतः हमारे भीतर के नाना प्रकार के भेद-विभेद, साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता आदि बढते ही जा रहे हैं। क्या हमें घूमकर देखने की ज़रूरत नहीं है कि हमने माता को काट-छाँट कर गलत और निर्जीव मूर्ति बनाने की कोशिश तो नहीं शुरू की है? अश्वत्थामा को दिये हुए चावल की धोवन को चाहे जितना ही दूध कहकर विज्ञापित किया गया हो, उससे उनका बल-वीर्य नहीं बढ सका, ठीक उसी प्रकार गलत वस्तु को जितने जोर से भी सही कहकर क्यों न विज्ञापित किया जाय, उससे हमारी शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होगी। सच्ची माता की सृष्टि तो नहीं की जा सकती पर उसे ध्वंस किया जा सकता है। कभी हमने इतिहास-पुराण में यह नहीं सुना कि किसी ने माता की सृष्टि की थी, परन्तु परशुराम की मातृ-हत्या प्रसिद्ध कथा है। हम भूल न जायं कि मातृ-हत्या के अपराध में परशुराम को कितना बड़ा दण्ड आजीवन भोगना पड़ा था। एक बार जो कुठार उनके हाथ में जम गया सो जमा ही रह गया, उसे कोई भी हटा न सका। पिता की आज्ञा की दुहाई देने पर भी उनकी इस दण्ड से—इस विडम्बना से—मुक्ति नहीं हुई। कुठार वस्तुतः नाश का प्रतीक है। यदि हमने आज विनाश से ही आरम्भ किया तो निश्चित मानिए, यह अस्त्र हमारे हाथ से छूटेगा नहीं; हम कभी भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकेंगे। माता को यदि हम जीवित समझें तो क्या कभी भी उसके अंगच्छेद की बात हम सोच सकते हैं? दक्ष-पुत्री भवानी ने

जब दक्ष-यज्ञ में पति का अपमान देखकर यज्ञानल में प्राण दे दिये थे तब नारायण ने उनके शव को चक्र से ५१ टुकड़ों में विभक्त कर दिया। ये ही ५१ खण्ड इक्यावन स्थानों में गिरे थे और इसलिए तांत्रिकों के ५१ पीठ हैं। तांत्रिक योगियों का कहना है कि जो इन इक्यावन पीठों की साधना एकत्र कर सकता है, उसी की कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जागृत होती है।

जोड़-जाड़कर नारी की सृष्टि की कथा हमारे पुराणों में एकदम नहीं हो, सो बात नहीं है। परन्तु इस प्रकार जोड़ी हुई प्रतिमा में मातृत्व की कल्पना ही नहीं की गई। स्वर्ग की अप्सरा तिलोत्तमा ऐसी ही नारी है। उसका काम था सबका चित्त हरण करना, मातृत्व नहीं। परन्तु पुराण साक्षी हैं कि वह वस्तुतः किसी का भी चित्त हरण नहीं कर सकी; बल्कि एक विनाशक शक्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हो गई। भाषा को जोड़-जाडकर गढ़ने के पक्षपाती लोग इस कथा को याद रखें तो अच्छा हो। मैं आशा करूँ कि पाठक माता के इस योगेश्वरी स्वरूप के ही आराधक हों। मै चाहता हूँ कि समस्त भारत भाषा के इसी योगेश्वरी स्वरूप की साधना का क्षेत्र हो।

: २१ :

# भाषा के क्षेत्र में भी पाकिस्तान

( श्री कमलापति त्रिपाठी )

मैं समझता हूं कि भारत की राष्ट्र-भाषा तो वह भाषा बनेगी, जो राष्ट्र के सहस्राब्दियों के संस्कार, उसके इतिहास की प्रवृत्ति, उसकी परम्परा, उसकी रुचि, उसकी प्रतिभा और उसकी आत्मा को मूलाधार बनाकर आविर्भूत होगी। आज कोई राजनीतिक नेता अथवा कोई राजनीतिक संस्था राष्ट्र-भाषा का निर्माण नहीं कर सकती। मैं समझता हूँ कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उठाकर व्यर्थ झगड़ा उत्पन्न किया जा रहा है और भाषा के क्षेत्र में भी पाकिस्तान बनाने का प्रयास हो रहा है। मैं देखता हूँ कि समस्या सुलझने की अपेक्षा बिगड़ती ही चली जा रही है। मेरा तो यह निवेदन है कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न आज छोड़ दिया जाय। मैं यह दावा नहीं करना चाहता हूँ कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बना दी जाय। मै केवल यह कहता हूँ कि सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन में भारत की प्रत्येक भाषा को अपनी प्रतिभा और उपयोगिता सिद्ध करने का अवसर दे दीजिए और देखिए कि *राष्ट्रीयता तथा नवभारत की आवश्यकता* को पूर्ण करने में कौन समर्थ होती है? यद्यपि मेरा यह विश्वास है कि यह शक्ति आज एक-मात्र हिन्दी में है, और यदि उसका पथावरोधन न किया जाय और व्यर्थ के झगड़े न उत्पन्न किये जायं, तो राष्ट्रीय मंच पर राष्ट्र-भाषा के रूप में इसी की प्रतिष्ठा निश्चित है, तथापि मैं स्वयं यह आग्रह नहीं करता कि आज कोई प्रस्ताव पास करके अथवा

कोई 'क़ानून' बनाकर उसे राष्ट्र-भाषा घोषित किया जाय। बाहरी अथवा क़ानूनी सहायता तो उन्हें चाहिए, जिनमें स्वयं बल न हो।

हम समझते हैं कि हिन्दुस्तानी का नाम भी वे ही लेते हैं, जो अपने पैर के नीचे की धरती खिसकती पाते हैं, हिन्दी के वेग से भयभीत होते हैं। फलतः मैं यही आग्रह करता हूं कि राष्ट्र-भाषा के नाम पर न्दुस्तानी अथवा किसी भी भाषा का नाम न लीजिए। हिन्दी को तथा अन्य समस्त भाषाओं को फलने-फूलने दीजिए, अपने पथ पर बढ़ने दीजिए और छोड़ दीजिए उन्हें कि वे जब अपने बलपर अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करें। समय आयगा, राष्ट्र स्वतः उस भाषा का प्रयोग करता दिखाई पड़ेगा, जिसमें उसकी आत्मा व्यक्त होती रहेगी और वही राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण करेगी।

मैं तो अब तक यह समझ ही न पाया कि हिन्दुस्तानी कौन-सी भाषा है और उसका स्वरूप क्या है। हिन्दी मैं समझ पाता हूं; उर्दू भी मेरी समझ में आती है। हिन्दी अपना विकास करे और उर्दू अपना रूप संवारे। दोनों अपने पथ पर बढ़ी चलें और फलें-फूलें। मुझे न उसके पारस्परिक मनो-मालिन्य की आवश्यकता प्रतीत होती है, न विरोध की। कोई भी साहित्य-प्रेमी उर्दू का विरोध नहीं कर सकता।...पर, यह 'हिन्दुस्तानी' कहाँ से आई और क्या है, यह समझना मेरे लिए कठिन हो गया है। मैं उन लोगों में हूँ, जो यह समझते हैं कि भाषा का स्वरूप बिगाड़ना स्वयं अपने को विद्रूप करना है। भाषा के साथ व्यभिचार जीवन को नष्ट कर देने के समान लगता है। हिन्दुस्तानी का अर्थ यदि यह है कि उर्दू भी नष्ट हो जाय और हिन्दी भी चौपट हो जाय, तो मुझे ऐसी भाषा नहीं चाहिए। मैं समझता हूं कि कोई भी—चाहे वह हिन्दी-प्रेमी हो, चाहे उर्दू प्रेमी—यह स्वीकार न करेगा कि उनका स्थान किसी ऐसी जारज भाषा को दिया जाय, जो दोनों का ही उन्मूलन करके स्वयं प्रतिष्ठित हो जाय।

: २२ :

# हमारी राष्ट्र-भाषा का स्वरूप

( डाक्टर उदयनारायण तिवारी )

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न पिछले तीस-चालीस वर्षों से हमारे सामने रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लड़ाई के दिनों में भी उसकी ओर से हम चिन्तित थे; पर हमारा मुख्य ध्यान राजनीतिक स्वतन्त्रता की ओर था और वह गौण बना था, क्योंकि सब प्रश्नों के मूल में राजनीतिक परतन्त्रता की भावना हमारे मन में थी। आज हम स्वतन्त्र हो गए हैं और एक ऐसे स्वतन्त्र देश क लिए, जिसका गौरवमय अतीत महान् एवं उज्ज्वल भविष्य के साथ मिलकर धुँधले वर्तमान को समेटने जा रहा है, एक अपनी राष्ट्र-भाषा का होना बहुत आवश्यक है। अतः अब तो राष्ट्र-भाषा का निर्णय तुरन्त हो जाना चाहिए। पिछले तीन वर्षों में हिन्दी एवं नागरी की जो उन्नति हुई है, यही उसकी राष्ट्र-भाषा एवं राष्ट्र-लिपि होने की योग्यता का प्रमाण है। आज उसे जो व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई है वह किसी शासन-सत्ता या अधिकार से नहीं प्रत्युत उसके अनुपम गुणों से जो बरबस अपनी ओर राष्ट्र के हृदय को खींच लेते हैं। अब तो यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि जन-संख्या की दृष्टि से तथा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की दृष्टि से कोई भी भाषा हिन्दी के सामने राष्ट्र-भाषा पद का दावा नहीं कर सकती।

हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा इसलिए नहीं हो सकती कि आज तक

उसका कोई स्वरूप ही निश्चित नहीं हो सका है। वह कहीं एक रूप में है, तो कहीं दूसरे रूप में। सच तो यह है कि भाषा के सम्बन्ध में यह नाम बहुत ही भ्रामक और अनुपयुक्त है। सर्व-साधारण जनता रेडियो में इसका स्वरूप उर्दू से ग्रहण करती है। अरबी-फारसी से लदी उर्दू को राजनीतिक चाल से हिन्दुस्तानी कहकर अब तक अखिल-भारतीय रेडियो ने हिन्दुस्तानी का जो स्वरूप सामने रखा है, उसे देखते हुए इसके सिवा कुछ दूसरा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी और उर्दू दो पृथक् भाषा-शैलियों के लिए भी इसका प्रयोग हमारे सामने है। युक्त-प्रान्तीय सरकार द्वारा संस्थापित प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' नाम की संस्था ही इसका प्रमाण है। वहाँ पर हिन्दी और उर्दू दोनों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करते हुए दोनों के सम्मिलित नाम के रूप में इसका व्यवहार आज भी हो रहा है। महात्मा जी के कथनानुसार हिन्दी और उर्दू के 'आमफहम' शब्दों से बनी हुई खिचड़ी भाषा, जिसमें अभी तक कोई साहित्य नहीं बन सका है, हिन्दुस्तानी है! वस्तु-स्थिति यह है कि अभी तक ऐसी कोई भाषा उत्पन्न नहीं हो सकी है जिसको निर्भ्रान्त रूप से सर्वत्र हिन्दुस्तानी कहा जाय। राष्ट्र-भाषा के सम्मानित पद पर ऐसी भ्रान्त-स्वरूप तथा निराकार भाषा को प्रतिष्ठापित करना वस्तुतः राष्ट्र की उन्नति में बाधा उपस्थित करना है। किसी भी दृष्टि से, क्या साहित्य क्या स्वरूप, हिन्दुस्तानी इस पद पर नहीं बैठाई जा सकती। यदि बैठाई गई तो सचमुच 'दीन इलाही' की भाँति वह भी इतिहास के पन्नों पर रहेगी। एक स्वतन्त्र देश की जनता को अपनी राष्ट्र-भाषा एवं राष्ट्र-लिपि की परख है। वह अपने-आप उसका वरण कर लेगी। इतिहास साक्षी है कि राज्याश्रय द्वारा परिपोषित ऐसी सारी भावनाएँ, जो राष्ट्र के हृदय में स्थान नहीं बना सकतीं, कभी अधिक दिनों तक ठहर नहीं सकतीं।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करने के विरोध में आज सबसे बड़ा ध्यान मुसलमानों का रखा जाता है। पर हम यह भूल जाते हैं कि यह

छोटा-सा सुन्दर नाम उन्हीं के पूर्वजों का दिया हुआ है। इसके वर्त्तमान उज्ज्वल स्वरूप एवं गौरवमय समृद्धि में उनके पूर्वज जायसी, कबीर, रहीम, रसखान आदि का कितना हाथ रहा है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है।

यदि हिन्दी के स्वरूप से किसी को चिढ है तो यह जान लेना चाहिए कि राष्ट्र-भाषा हो जाने से हिन्दी के वर्तमान स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन होंगे। मेरा ऐसा विचार है कि राष्ट्र-भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे सर्वसाधारण जनता समझ सके। आज ऐसा हो भी रहा है। सरल हिन्दी में जो भाषण दिये जाते हैं उन्हें उत्तरी भारत की भिन्न-भिन्न ग्रामीण बोलियों को बोलने वाली निरक्षर जनता भी समझ लेती है। किन्तु बंगला, असामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, मलयालम, कन्नड, तामिल, तेलगू आदि भाषाओं अथवा वहाँ की बोलियों को समझने वाली जनता के सामने संस्कृत-गर्भित हिन्दी बोलने से ही काम चलेगा। इसका कारण यह है कि भाषाएँ दो प्रकार की होती हैं एक Borrowing अर्थात् उधार लेने वाली तथा दूसरी Building अर्थात् अपने प्रत्ययों आदि से ही शब्दों का निर्माण करने वाली। पाश्चात्य देशों में अंग्रेजी पहली प्रकार की भाषा है और जर्मनी तथा रूसी दूसरी प्रकार की भाषाएँ हैं। अंग्रेजी की ही भाँति बंगला तथा उड़िया आदि की भी प्रकृति है, जिसमें लगभग ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत से उधार लिये जाते हैं। किन्तु हिन्दी अपने प्रत्ययों से स्वयं शब्दों का निर्माण करती है। इसी कारण से उत्तरी भारत में सर्वत्र सरल हिन्दी तथा अन्य स्थानों में संस्कृत-गर्भित हिन्दी की अत्यन्त आवश्यकता है।

कुछ लोगों का ध्यान है कि ग्रामीण बोलियों में संस्कृत शब्दों का अभाव है। यह भ्रामक है। इसके विपरीत कुछ लोग यह समझते हैं कि ग्रामीण बोलियों में अरबी-फारसी शब्दों की भरमार है, सैकड़ों वर्षों तक देश में मुसलमानी शासन होने के कारण यह समझना कुछ युक्ति-

युक्त हो सकता , पर स्थिति इसके ठीक विपरीत है। श्री ज्ञानेन्द्र-मोहन दास के बंगला अभिधान मे लगभग एक लाख शब्द हैं, जिनमें केवल ढाई हजार शब्द अरबी-फारसी के हैं। इससे अधिक अरबी-फारसी के शब्द बंगला में उधार लिये हुए नहीं हैं। उडिया तथा असमिया की भी वही दशा है। उत्तरी भारत को ग्रामीण बोलियों में तो कहीं भी तीन प्रतिशत से अधिक अरबी-फारसी के शब्द नहीं हैं। उत्तरी भारत में सर्वत्र समान रूप से प्रचलित एवं लोकप्रिय अल्ह-खण्ड में, जिसे हिन्दू मुसलमान सब गाते और सुनते है, एक प्रतिशत से अधिक अरबी-फारसी के शब्द नहीं हैं।

ऐसी स्थिति में संस्कृत-गर्भित हिन्दी को छोडकर अरबी-फारसी से लदी या कृत्रिम खिचडी हिन्दुस्तानी कभी राष्ट्र-भाषा के पद पर नहीं प्रतिष्ठित की जा सकती। अब रही लिपि की बात। किसी भी भाषा के साथ उसकी लिपि की एकता का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अतः अपनी राष्ट्र-भाषा के लिए विदेशी लिपि का अपनाना अपनी हीनता का द्योतक है। राष्ट्र की चेतना के विकास में यह प्रवृत्ति बाधक भी होगी। रोमन लिपि की कठिनाइयाँ संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दों के लिए और भी बढ़ जायंगी। फारसी-जैसी दुर्गम लिपि को, जिसे स्वयं मुसलमानी राष्ट्रों ने अपने यहाँ से अलग कर दिया है, राष्ट्र-लिपि का पद नही दिया जा सकता। नागरी ही इसके सर्वथा अनुरूप है। संसार के सुप्रसिद्ध भाषा-तत्त्वविदो ने भी नागरी की महत्ता स्वीकार की है। भारत ही की नहीं, सिंहल, बर्मा तथा स्याम की लिपियाँ भी नागरी लिपि पर आधारित हैं। सारे राष्ट्र को एक सूत्र में आबद्ध कराने की क्षमता अकेली उसी लिपि मे है, क्योंकि सारे देश की लिपियाँ अधिकांशतः इसी से पैदा हुई है। टाइपराइटर और प्रेस की कठि-नाइयों को ध्यान में रखकर देवनागरी लिपि में कुछ परिवर्तनों के कर देने पर वे सारे गुण आ जायंगे जो रोमन लिपि में उसके प्रशंसकों को आज दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार देवनागरी में लिखी हुई संस्कृत-गर्भित हिन्दी ही हमारे समूचे स्वतन्त्र राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा होने की क्षमता रखती है। वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण इसी में हो सकता है, किसी कृत्रिम भाषा में नहीं। अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति हमारी मानसिक गुलामी का लक्षण है। स्वतन्त्र राष्ट्र की चेतना एवं विकास में इससे बडी बाधा पडेगी। ऐसा कौन-सा कारण है जिससे सर्वगुण-सम्पन्न अपनी भाषा की शब्दावली छोडकर हम अंग्रेजी की शरण लें। अंग्रेजों के साथ हमें उसे भी विदाई देनी है। आज जबकि हम शिक्षा का माध्यम हिन्दी द्वारा कराने जा रहे हैं और अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को पदासीन करने जा रहे हैं तो ऐसी स्थिति में अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली का क्या प्रयोजन है, जब कि हमारे संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का व्यापक शब्द-भण्डार संसार के समस्त विषयों को अपने में समाविष्ट करने में सशक्त हैं।

कुछ लोग प्रान्तीय बोलियों अथवा भाषाओं के विकास में हिन्दी को बाधक समझ कर उसका विरोध करना चाहते हैं, उनसे हमारा विनम्र निवेदन है कि इन प्रान्तीय बोलियों अथवा भाषाओं के साथ हिन्दी का व्यवहार छोटी बहन जैसा है। बडी बहन कभी अपनी छोटी बहन को अपदस्थ करना नहीं चाहेगी। इसका संघर्ष केवल अंग्रेजी के साथ है। यह उसी पद पर आसीन होगी जिस पर अब तक अंग्रेजी थी। अपनी-अपनी सीमाओं में प्रान्तीय बोलियों और भाषाओं का वही स्थान अब भी बना रहेगा जो अतीत में था। हिन्दी उनकी समृद्धि एवं श्री-वृद्धि मे साधक बनेगी, बाधक नहीं। उनसे वह आदान-प्रदान करेगी, संघर्ष नहीं। सम्मेलन सदा से सरल हिन्दी के पक्ष में रहा है। वह किसी भी भाषा के शब्द का हिन्दी में आने से बहिष्कार नहीं करता। यह तो सम्मेलन के विरुद्ध हिन्दी-विरोधियों का प्रचार है।

◆

: २३ :

# राष्ट्र-भाषा की उलझन

## ( श्री चन्द्रबली पाण्डे )

स्वतन्त्रता की प्राप्ति और पाकिस्तान के निर्माण से हमारे देश की जो स्थिति बदल गई है, उसके साथ-साथ बदलने की क्षमता हममें नही है। यही कारण है, कि आज हम राष्ट्र-भाषा की उलझन मे पड़ गए हैं, और भाषा की गुत्थी सुलझाने में स र्था असमर्थ हो रहे है। यदि पाकिस्तान के प्रभाव को भाषा के क्षेत्र मे देखना हो तो अपने संघ में आप देख सकते हैं । उसके कारण आप के राष्ट्र में राष्ट्र-भाषा हिन्दी का बल बढ़ गया; किन्तु साथ ही अनुपात मे हिन्द-संघ की भाषाओं में द्रविड़ भाषा को अधिक महत्त्व मिल गया । द्रविड़-भाषा अनुपात में आर्य-भाषा से कुछ आगे गई, और इस दृष्टि से उसको कुछ अधिक कहने का अवसर मिल गया ।

इधर एक और घटना ऐसी घटी, जिससे उसको कुछ और भी बल मिल गया। कौन नहीं जानता कि हैदराबाद-राज्य को राज-भाषा उर्दू के रूप में हिन्दी थी, जिसको हिन्दी बनाने का उद्योग आज हो रहा है; किन्तु साथ एक दूसरी बात भी काम कर रही है। पड़ौसी भाषा के लोग अपनी भाषा के लोगों को अपने साथ देखना चाहते है, और भाषा के आधार पर ही अपना प्रान्त खड़ा करना चाहते हैं । ऐसी स्थिति में नही कहा जा सकता कि उनकी भावना इस राज-भाषा के प्रति क्या होगी ।

हाँ, इतना अवश्य है कि यदि भाषा के प्रति उनकी वही भावना है, जो मुसलमान के प्रति जिन्ना की थी, तो अलग द्रविडस्तान के बन जाने में कोई बाधा नहीं। द्रविड और आन्ध्र, कन्नड और मलयालम की गोंडी किस प्रकार बैठेगी, कौन-सी भाषा उनकी राष्ट्र-भाषा होगी, आदि प्रश्नों का समाधान हो जाना राष्ट्र के हित में अच्छा होगा। यदि आज हमारे मन में 'आर्यावर्त' और 'द्रविडावर्त' का द्वन्द्व चल रहा है तो उसे और बढ़ाना ठीक नहीं। यदि हम अपने ज्ञान और विवेक, अपने साहित्य और संस्कार, अपने इतिहास तथा पुराण के द्वारा उससे मुक्ति नहीं पा सकते, और अंगरेजाचार्य की शिक्षा को ही सफल करना चाहते है, तो अभी उसका निपटारा कर लेना ठीक होगा। 'पाकिस्तान'-की धुन में जितने 'स्थान' बन सकें, बन लें। फिर देखा जायगा कि अब हमारा स्थान कहाँ है ? सिर में, या चरण में।

इतना भय क्यों—जो हो, परिस्थिति तो आज यह है कि आज दक्षिण और उत्तर एक ही राष्ट्र के अंग और एक ही संस्कृति के अभिमानी हैं, और फलतः चाहते भी एक ही राष्ट्र-भाषा हैं। वह राष्ट्र-भाषा 'नागरी हिन्दी ही है' इसमें सन्देह नहीं। बाधा-व्यवहार, भडक की है। अंग्रेजी के द्वारा किसी की धाक जमी हो, ऐसा नही कहा जा सकता। किसी सदस्य को विधान-परिषद् में इसलिए स्थान नहीं मिला है, कि वह बढ़िया अंग्रेजी झाडता है। नहीं, उसका स्वागत हुआ है, उसकी स्थिति तथा उसके ज्ञान के कारण, फिर उसे हिन्दी का इतना भय क्यों ?

अंग्रेजी यदि आज ही देश से चली गई तो भी देश को तो उसकी प्रतिभा और पांडित्य का उपयोग करना ही होगा। और कुछ नहीं, तो दुभाषिया ही सही, पर इस प्रकार की स्थिति की न तो किसी को कामना ही है, और न सम्भावना ही। अंग्रेजी तो तब तक अपना काम करेगी जब तक हिन्दी अपना स्थान नहीं लेती और हिन्दी तभी उसका स्थान ले सकेगी, जब उसको सचमुच राज्याश्रय मिले।

नया कुछ नहीं करना—सो आज संघ के एक बड़े भू-भाग की वह राज-भाषा बन चुकी है। पाकिस्तान के पश्चिमी-खंड की विकृत रूप में वह राज-भाषा है, और पूर्वी-खंड की उसी रूप में राष्ट्र-भाषा भी। हैदराबाद की वह उसी रूप में राज-भाषा रही है, और काश्मीर की भी वह सरल 'उर्दू' के नाम से दोनों लिपियों, 'नागरी और फारसी' में राज-भाषा है। इनके अतिरिक्त पाकिस्तान से बचे पंजाब से लेकर बंगाल की सीमा तक उसी का अपने प्रकृत रूप मे राज्य है। हिमालय से लेकर विन्ध्य तक ही नही, उसके कुछ नीचे तक उसी का सत्कार है, संक्षेप में आज आसाम, बंगाल, उत्कल, मद्रास और बम्बई के प्रदेशों को ही उस पर विचार करना है। इनमें भी मद्रास और बम्बई के प्रांत तो उसके मुसलमानी रूप यानी 'हिन्दुस्तानी' को अपने यहाँ के मुसलमान की मातृ-भाषा मान चुके हैं, और सन् १८७९ से उसमे उन्हे शिक्षा भी देते आ रहे हैं। इधर पूज्य बापू की कृपा से कितने हिन्दी या हिन्दुस्तानी के जानकार भी वहाँ पैदा हो गए हैं। इस प्रकार सच पूछिए तो राष्ट्र को नया करना कुछ भी नही है। बस, जो कुछ अभी तक राष्ट्र-भाषा के नाम पर जहाँ-तहाँ होता रहा है, उसी को एक मार्ग पर लगाकर उसको अपनी छाप से पुष्ट और प्रमाणित कर देना है। शेष तो आप ही धीरे-धीरे होता रहेगा।

राष्ट्र-भाषा का विरोध कौन करते हैं—माना, कि आज ही दिल्ली से राष्ट्र-भाषा की घोषणा हो गई तो इसका तुरन्त प्रभाव किसी ऐसे व्यक्ति पर तो पडा नहीं, जो उसका चाकर नहीं। राष्ट्र का प्रत्येक प्राणी राष्ट्र-भाषा पढ़े ही, ऐसा भी इसका कुछ अर्थ नहीं। प्रत्येक प्रान्त अपनी भाषा व राज-भाषा का निर्णय आप करेगा। वह चाहे तो प्रत्येक प्राणी के लिए राष्ट्र-भाषा को अनिवार्य कर दे और न चाहे तो किसी शाला में उसे स्थान न दे, और उसे उन लोगों के विकल्प या शक्ति पर छोड़ दे, जो प्रान्त से बढकर राष्ट्र से अपना सम्बन्ध स्थापित करना और समस्त राष्ट्र में अपना करतब दिखाना चाहते हैं। निदान राष्ट्र-भाषा

का विरोध जनता की ओर से नहीं, प्रतिनिधि की ओर से है। और वस्तुतः आज के प्रतिनिधि भी जनता के प्रतिनिधि नहीं, ब्रिटिश राज के वीर हैं, जो उसकी रीति-नीति से मुक्त नहीं। उनके जीवन का विकास अनुकूल या प्रतिकूल चाहे जिस दशा मे हुआ, ब्रिटिश-छाया में ही हुआ। इसी से उनका अंग्रेजी-मोह भी बड़ा है।

परन्तु इस मोह से राष्ट्र का उद्धार और लोक का कल्याण तो नहीं हो सकता। नहीं लोक-मंगल के लिए तो उस लोक को अपनाना ही पड़ेगा, जो अब तक सरकार की उपेक्षा का पात्र रहा है। 'लोक-धुनि' और 'लोक-वाणी' का सत्कार 'राष्ट्र-धुनि' और 'राष्ट्र-वाणी' के विरोध में कभी नहीं हो सकता। कारण कि सबकी आत्मा का विकास एक ही ढर्रे पर हुआ है, और सबकी संस्कृति एक ही है। भाषा की प्रकृति चाहे जितनी भिन्न हो, पर प्रवृत्ति सब की एक है। इसी एक प्रवृत्ति ने हमको एक सूत्र में बाँध रखा है, और इसी को आज फिर एक वाणी की आवश्यकता है। संस्कृत और प्राकृत की सीधी परम्परा में अवश्य ही वह वाणी 'नागरी' ही है, जो और कुछ नहीं 'नागर' अपभ्रंश ही का विकसित रूप है, और फलतः उसका नाम भी है 'नागरी-भाषा'; जिसका विरोध जान-बूझकर ग्रियर्सन आदि भाषा-मनीषियों ने कूट-नीति के कारण किया है और हिन्दुस्तानी के भ्रम-भरे नाम को उसके स्थान पर चालू किया है।

भाषा की दृष्टि से ही यदि हिन्दी और उर्दू का भेद होता तो 'हिन्दुस्तानी' से काम चल सकता था, किन्तु हिन्दी और उर्दू का मूल भेद तो प्रकृति नहीं, प्रवृत्ति का है; जिसके कारण अन्त में उसे अलग अपना घर बनाना पड़ा। उसके अलग हो जाने पर जितने रह गए हैं, उनकी प्रवृत्ति एक ही है, उनकी वाणी की प्रकृति भले ही भिन्न हो।

प्रकृति की दृष्टि से भारतीय भाषाओं का जो वर्गीकरण हुआ है, उस पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है। ग्रियर्सन की 'भाषा-पड़ताल' कुछ 'ब्रिटिश-राज' की रक्षा के लिए भी है ही; किंतु

अभी उसकी आलोचना व्यर्थ होगी। यहाँ दिखाना हमें यह है कि बताने को यहाँ चाहे जितनी भाषाएं बता दी जायं, और उनका चाहे जितना गोत निकाल लिया जाय, पर साहित्य और शिक्षा की दृष्टि से महत्त्व आर्य और द्रविड-कुल की भाषाओं को ही है। अतः हमें यहाँ इन्हीं की दृष्टि से विचार करना चाहिए और देखना यह चाहिए कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में सभी लोगों के लिए अनिवार्य बना दी जाय, तो किसकी स्थिति क्या होगी।

गुजराती और हिन्दी—आर्य-भाषाओं में गुजराती के विषय में इतना कह देना पर्याप्त होगा, आज से ५००-६०० वर्ष पहले उसका हिन्दी से कोई ऐसा विभेद न था, जिसका उल्लेख हो सके। राजस्थानी, व्रजभाषा और गुजराती में इतना साम्य है कि इन्हें सगी बहनें कहा जाता है। राजस्थान के लोग किस सरलता से हिन्दी को अपनी भाषा समझते, और उसके लिए उद्योग करते हैं, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। एक मीराबाई को ले लीजिए, वह हिन्दी ही नहीं, गुजराती को भी अपनी ही समझती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के पंडित थे। संस्कृत में भाषण देते फिरते थे। कलकत्ते के एक भाषण का उलथा ठीक से नहीं हुआ। झट हिन्दी को अपना लिया। स्वामी जी संस्कृत को मातृ-भाषा कहते थे। फिर भी उन्होंने देख लिया कि संस्कृत से अब जनता का काम नहीं चल सकता। निदान हिन्दी को 'आर्य-भाषा' आर्यावर्त की भाषा के रूप में लिया, और उसी के द्वारा अपना सारा प्रचार किया। राष्ट्र-पिता म० गान्धी भी उसके निश्चय समर्थक हुए और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा माना। कहाँ तक कहें, 'नागरी' के विकास में गुजरात का बड़ा हाथ है। भाषा और लिपि दोनों ही के विकास में उसका योग सबसे अधिक है। 'दक्खिनी' के कवियों ने आरम्भ में अपनी भाषा को 'गूजरी' यों ही नहीं कहा है। यदि आप नागरी लिपि के विकास पर अधिक ध्यान दें, और राष्ट्र-कूटों तथा गुर्जर प्रतिहारों के राज्य का लेखा लें तो आप ही स्पष्ट हो जाय कि गुजरात

और हिन्दी में इतना घना सम्बन्ध क्यों ? ग्रियर्सन की भाषा-पड़ताल में भी यही बात की गई है। गुजराती भी पश्चिमी हिन्दी की भाँति 'अंतरंग' या भीतरी भाषा है, और लिपि तो गुजराती की भी नागरी ही है। देवनारी का प्रचार कम और कैथी-नागरी का अधिक है, पर इधर देवनागरी की ओर झुकाव अधिक है। लिपि के क्षेत्र में उनकी स्थिति हमारे बिहार-प्रांत की-सी है।

मराठी और हिन्दी—गुजराती के बाद मराठी को लीजिए, लिपि में कोई वैसा भेद नहीं। मराठी के सभी अक्षर हिन्दी में चलते हैं। प्रकृति की दृष्टि से यह पश्चिमी हिन्दी की अपेक्षा पूर्वी-हिन्दी के साथ दिखाई देती है। ग्रियर्सन साहब उसे 'बहिरंग' या बाहरी घेर की चीज समझते हैं। पर सच पूछिये तो व्याकरण के अतिरिक्त इन भाषाओं का कोई ऐसा भेद नहीं जो एक को दूसरे से अलग कर सके। महाराष्ट्र के लोग किस सरलता से हिन्दी पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, इसे कोई 'आज' के यशस्वी सम्पादक श्री पराडकर से पूछ देखें, अथवा प्रसिद्ध राष्ट्र-सेवी बाबा राघवदास से सुन लें। हिन्दी का इतिहास देखें तो पता चले कि इसका रहस्य क्या है।

द्रविड़ भाषाएं और हिन्दी—मराठी की भाँति ही उड़िया और बंगला तथा असमिया की भी स्थिति है। पर अड़चन कुछ अधिक है। लिपि में भी थोड़ा भेद है और उच्चारण में भी; किन्तु भक्ति-भाव का कुछ ऐसा सम्बन्ध रहा है कि इस वर्ग को हिन्दी सीखने में उतना कष्ट नहीं होता जितना शुद्ध बोलने में, हिन्दी का लिंग-भेद बहुतों को सताता है, पर यहाँ उसका विचार नहीं। आज परिस्थिति यह है कि काम-काजी हिन्दी को सीखने में किसी भी आर्य-भाषा-भाषी को उतना कष्ट नहीं जितना कि द्रविड भाषा-भाषी को है। फलतः 'असमंजस' भी उन्हीं की ओर से अधिक है। उनमें भी 'द्रमिल' या तामिल भाषा-भाषी को ही सबसे अधिक कष्ट है और सरकार की ओर से उन्हीं को

सबसे अधिक भड़काया भी गया है। अतः कुछ इसका भी विचार कर लेना चाहिए।

द्रविड़-भाषा भी दो वर्गों में बँटी है, और उन दोनों में होड़ भी कुछ कम नहीं। श्री ग्रियर्सन साहब ने एक मध्य का वर्ग भी माना है, पर वास्तव में यह वर्ग हिन्दी का हो नहीं गया; बल्कि हो जाने की स्थिति तक पहुँच चुका है, अतः उसकी चिन्ता नहीं। द्रविड़ और आंध्र का भेद प्रत्यक्ष है। आंध्र का आर्य-भाषा से जितना मेल-मिलाप रहा है, उतना द्रविड़ का नहीं। यहाँ तक कि उसके प्राचीन वैयाकरण संस्कृत को ही उसकी भी प्रकृति बताते थे। परन्तु भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उसे अलग ही माना गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्हें हिन्दी सीखने में उतना श्रम नहीं, जितना धुर तामिल में है।

आंध्र से ही मिलती-जुलती बहुत-कुछ स्थिति कन्नड़ की भी है। 'कर्नाटक क्षत्रिय' का प्रताप उत्तर में भी चमका था। आंध्र की भाँति ही उसका भी कभी आर्य-भाषा पर शासन था। इधर जैन मत के प्रचारकों के द्वारा अपभ्रंश का प्रसार भी उधर खूब हो गया था। भाव यह है कि उन्हें भी हिन्दी का सीखना खल नहीं सकता। अल्प-काल में ही वे भी हिंदी के अधिकारी हो सकते हैं।

किन्तु इसके आगे बढ़ते हुए कुछ संकोच होता है। 'मलयालम' और 'तमिल' की स्थिति कुछ निराली है। उन्हें कुछ-न-कुछ कष्ट का सामना करना पड़ता है। वह भी विशेषतः 'तमिल' के ध्वनि-संकेतों या वर्णों की कमी के कारण उनका विलक्षण उच्चारण भी परिहास का कारण होता है। फिर भी उनकी प्रतिभा और उनका अध्यवसाय सराहनीय है। हिन्दी-भाषा का बोध उन्हें शीघ्र हो जायगा। बोलना न सही, लिखना तो उनका अवश्य सुबोध होगा। सन् २१ की गणना के अनुसार उनकी कुल संख्या प्रायः २०४१२००० के लगभग थी, और मलयालम की ७१२८००० के लगभग। इस प्रकार दोनों को मिला-

कर देखें तो आज भी ३ करोड से अधिक संख्या का यह प्रश्न नहीं है। सच्ची जटिलता इन्हीं के सामने है। और फलतः विरोध भी इन्हीं का पक्का हो रहा है।

अदूरदर्शी न बनें—द्रविड-भाषी आज किसी भी दशा में ७-८ करोड से अधिक नहीं हैं; जिनमें से लाखों की संख्या में हिन्दी सीख चुके हैं। इसलिए नये सिरे से फिर इस प्रश्न को उठाना ठीक नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि अपनी आज की अडचन को इतना महत्त्व न दें, कल के महत्त्व को देखें, और अपनी अदूरदर्शिता के कारण अपनी संतान के क्षेत्र को संकुचित किंवा संकीर्ण न बनायें। आज भले ही आवेश में आकर चाहे जितना राष्ट्र-भाषा हिन्दी का विरोध कर लें, पर अंत में जाकर उन्हें सहर्ष इसे अपनाना होगा, और तब अपने इस आग्रह पर पछताने के अतिरिक्त और कुछ शेष न रहेगा। अपनी चातुरी और कुशलता के लिए जो ख्यात रहे हैं, आशा है इस समय अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे और किसी भुलावे में न आकर अवश्य राष्ट्र का पक्ष लेंगे। उनके थोडे-से काम से राष्ट्र का कितना बडा उपकार होगा, इसे आप तब तक ठीक नहीं समझ सकते, जब तक आपके सामने अंग्रेजी का मोह बना है। अंग्रेजी का झगडा छूटा नहीं कि सारा झगडा दूर है। अंग्रेजी नहीं, अंग्रेजी के मोह से मुक्त होने का प्रश्न और है। इसी से उतावली और जल्दी की पुकार भी। हम अंग्रेजी के शत्रु नहीं, पर उसके भक्त भी ऐसे नहीं कि उसको कोने से उठाकर कंगूरे पर रख दें, और अपनी सच्ची और पैनी राष्ट्र-भावना को कुंठित करें। आशा है शीघ्र उनके सहयोग से राष्ट्र-भाषा की पताका उस 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा 'लाल किले' पर फहरायगी; जो सन् १७४४ ई० से हिन्दी का विरोधी और 'विलायत' का भक्त रहा है।

◆

: २४ :

# हिन्दी, हिन्दुस्तानी और तेलगू

( डाक्टर रघुवीर )

आगामी कुछ मास के बाद भारत के विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधि-गण दिल्ली में इकट्ठे होकर निश्चय करेंगे कि भारत की राष्ट्र-भाषा का स्वरूप क्या हो ?

उत्तर प्रान्तीय प्रदेश मे हिन्दी ने जो गौरवपूर्ण पद प्राप्त किया है, वह सर्व-विदित है। पूर्वी पंजाब से वे अधिकांश मुसलमान जा चुके हैं, जो प्रायः हिन्दी के जन्म-जात विरोधी समझे जाते थे। वहाँ के मंत्री पं० गोपीचन्द भार्गव ने बहुत पहले ही हिन्दी को अपने प्रान्त की राज-भाषा घोषित कर दिया है। आगरा और अवध के निकटवर्ती प्रान्तों ने भी उसी प्रकार हिन्दी को राज-भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है। बिहार की प्रान्तीय भाषा हिन्दी है, राजस्थान और मध्यभारत की रियासतों में भी जनता तथा राज्य की भाषा हिन्दी मानी जा चुकी है। मध्यप्रांत तथा बरार में हिन्दी और मराठी दोनों भाषाएं प्रचलित हैं। इसी प्रकार बम्बई के उत्तरी प्रदेश में मराठी और गुजराती का प्रचलन है। पश्चिमी बंगाल में प्रान्तीय भाषा बंगला है। पूर्वी बंगाल में भी शिक्षा एवं शासन-कार्य में प्रयुक्त होने के लिए पाकिस्तान-सरकार बंगला के लिए ही अधिक प्रयत्नशील है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत के किसी भी प्रान्त या

राज्य में हिन्दुस्तानी नाम की कोई भी भाषा प्रचलित नहीं है। कुछ इने-गिने आदर्शवादी व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी-जैसी एक भ्रामक वस्तु के सृजन तथा प्रचार के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु हमारे व्यवहार-कुशल शासकगण इस अस्तित्व-हीन वस्तु को कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद देने में असमर्थ-से प्रतीत हो रहे हैं।

हमारे देश का दक्षिणी भाग नितान्त सांस्कृतिक एवं संस्कृतमय है। अपने पाठकों के लिए मैं प्रोफेसर पी० टी० राजू द्वारा हाल में लिखे हुए 'तेलगू साहित्य के इतिहास' के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ:—

किसी भी प्रान्तीय साहित्य का यथार्थ मूल्यांकन तब तक कभी नहीं किया जा सकता जब तक यह न विचार कर लिया जाय कि उक्त प्रान्त ने संस्कृत साहित्य की कितनी सामग्री का सृजन किया है, क्योंकि संस्कृत ही तो आधुनिक भारतीय साहित्य को मूल प्रेरणा तथा शक्ति प्रदान करने की क्षमता रखती है। यहाँ पर उर्दू को छूट दी जा सकती है। शेष अन्य भारतीय भाषाओं में जितने भी प्रारम्भिक काल लिखे गए हैं, उनके रचयिता निश्चय ही संस्कृत के पंडित रहे हैं। जहाँ तक तेलगू साहित्य का सम्बन्ध है, इसके सभी प्रारम्भिक रचयिता ही संस्कृत के ज्ञाता थे। और जहाँ तक प्रभाव की बात है, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य संस्कृत वाङ्मय से सदा ही अनुप्राणित होता रहा है।

हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य के क्रमागत विकास में तीन प्रमुख धाराओं का प्राधान्य है। उन्हें हम क्रमशः शुद्ध संस्कृत, शुद्ध प्राकृत और संस्कृत-प्राकृत के समन्वय से बनी हुई धारा कहते हैं।

तेलगू साहित्य का सर्वप्राचीन ग्रन्थ है महाकवि नाणय का महाभारतम्। 'भारत-धर्म' के प्रचारार्थ इसका सृजन हुआ। नाणय ने उक्त रचना राजमंत्री के चालुक्य राजा नरेन्द्र के आदेशानुसार की

थी जिसके राज्य-काल में ही मुहम्मद गज़नवी ने उत्तर भारत में लूट-पाट मचा रखी थी। राजा नरेन्द्र ने विचार किया कि शत्रुओं का सामना न कर सकने वाली अशक्त हिन्दू जाति पर क्रमशः बौद्ध और जैन-मत का अव्यक्त और क्षयशील प्रभाव पड़ रहा है। उसने हिन्दू-धर्म की शिक्षा देने का दृढ निश्चय किया। धर्म की वास्तविक व्याख्या महाभारत में हुई है, और राजा उसके पात्रों का वंशज माना जाता था। उसे तत्कालीन जैन पुराणों का मूलोच्छेदन भी करना था। महाभारत में लोकतंत्रात्मक एवं नेतृत्व-प्रधान प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। इस ग्रंथ द्वारा जैन और बौद्ध मत का सार्वजनिक प्रभाव ही नहीं नष्ट हो गया, अपितु जनता को भी इस योग्य बनाया जा सका कि वह अपने जीवन में वीरता और दृढता पूर्वक इस्लाम से संघर्ष कर सके।

महाभारत-काल के बाद तेलगू साहित्य में रामायण-काल का प्रादुर्भाव होता है। इसी के बाद भागवत-काल आता है।

ईसा की १९ वीं शताब्दी के अन्त तक का समय पुराण-काल और अनुवाद-काल कहा जाता है। उसके बाद पुराणो के अन्यान्य ग्रंथों का अनुवाद-कार्य चलता रहता है। ऐसा होना भी स्वाभाविक ही था। कारण, प्रस्तुत तेलगू साहित्य द्वारा हमे ज्ञात होता है कि इसका आरम्भ ही जनता में ब्राह्मण-धर्म तथा संस्कृति का व्यापक प्रचार करने के लिए हुआ था, और यह कार्य रामायण, महाभारत एवं पुराण-जैसे विशाल ग्रंथों के बिना असम्भव था।

ये पुराण न्यूनाधिक रूप में संसार के विभिन्न दृष्टिकोणों से परिचित कराने के लिए संपूर्ण सृष्टि का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। रामायण और महाभारत में भी हमें उसी सार्वभौम झाँकी का दर्शन मिलता है। मौलिकता के अभाववश नहीं, अपितु किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही विचारशील विद्वानों ने उक्त काव्यों के सृजन में

अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। यदि उनके दृष्टिकोण भिन्न रहे होते तो निश्चय ही परिणाम भी अन्यथा होते।

ईसा की १६वीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर १६वीं शताब्दी के अन्त तक का समय तेलगू-साहित्य में प्रबन्ध काल कहा जाता है। इन प्रबन्धों का सृजन भी संस्कृत के महाकाव्य की भाँति ही हुआ है।

संस्कृत में पाँच महाकाव्य हैं—रघुवंश, कुमारसम्भव, किराता-र्जुनीय, शिशुपाल-वध और नैषध। ठीक इसी प्रकार तेलगू में भी पाँच महाकाव्यों का क्रम इस प्रकार है—स्वरोचिसामनुसम्भवम्, अमुक्त माल्यद्, वसु चरितम्, शृंगार नैषधम् तथा पाण्डु-रंग-माहात्म्यम्।

जैसे संस्कृत साहित्य का, ठीक उसी प्रकार तेलगू साहित्य का भी कोई व्यक्ति पंडित नहीं माना जा सकता, जब तक वह उपरोक्त पाँचों महाकाव्यों का विशद अध्ययन न कर चुका हो।

किन्तु तेलगू के तो प्रत्येक महापंडित के लिए उक्त सभी महा-काव्यों का परिपक्व ज्ञान होना आवश्यक है; कारण, संस्कृत का अधिकारी विद्वान् हुए बिना कोई व्यक्ति तेलगू का महापंडित नहीं हो सकता।

हाँ, तो विजयानगरम् के पतन के साथ ही आन्ध्र देश के सारे गौरव तथा आशाओं पर पानी फिर गया। जनता में आत्म-विश्वास की भावना भी जाती रही। ईसा की १७वीं शताब्दी के मध्य-काल से १९वीं शताब्दी तक के समय को अशान्ति-काल कहा जाय तो अनु-चित न होगा। इस काल को सार्थक करने वाले कुछ शतक जो लिखे गए थे उनके नाम भर्तृहरि, रामशतकम्, आन्ध्रनायकशतकम्, सिंहादि-नरसिंहशतकम् थे; १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १८वीं तक क्षुब्ध और निराश कवियों द्वारा ऐसी अनेक पुस्तकें लिखी गईं। इनमें देवी-देवताओं से प्रार्थना की जाती थी कि वे अपने क्रोध को शान्त कर विपत्ति-ग्रस्त जन-समुदाय की रक्षा करें। ठीक इसी समय

उनके गाँवों तथा नगरों को मुसलमान लूट-पाट रहे थे। उनके मन्दिरों को तोडना, तथा उनकी स्त्रियों का अपहरण करना तो मुसलमानों का साधारण कार्य था। ये तीनों शतक कवित्व के गुणों से युक्त, तथा भावगत सौन्दर्य एवं शैलीगत विशेषताओं से ओत-प्रोत हैं। इनका अनुवाद यदि सभी भारतीय भाषाओं में हो सके तो अनुचित न होगा। उनमें अपने देश को शिक्षा एवं आनन्द प्रदान करने की प्रचुर सामग्री मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं।

सत्रहवीं शताब्दी में ही गद्य-काव्य का आरम्भ होता है। श्री रघुनाथ राय का 'वाल्मीकि चरित्रम्' तेलगू साहित्य की प्रथम गद्य-रचना । १८वीं शती में कवि श्री वेंकेट चल ने महाभारतम्, महा-भागवतम् तथा रामायणम् की रचना गद्य में की। इसी समय तंजोर, मदुरा तथा मैसूर में भी अनेक गद्य-ग्रन्थ लिखे गए। तेलगू मे नाटक के जन्मदाता श्री यक्षभरणम् थे। इन्होंने भागवतम्, वीथी—नाटकम् और हरिकथा की रचना की। भागवतमदल तथा देव दासियों द्वारा इन नाटको का प्रदर्शन बड़ी कुशलता से होता है। इन नाटकों में नृत्य, वाद्य, संगीत तथा कला के साथ-साथ प्राचीन भरत-नाट्य के मूल-तत्वों का सुन्दर समन्वय भी मिलता है।

आधुनिक तेलगू-साहित्य के संस्थापकों में रायबहादुर के० विश्व-नाथलिंगम् का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उनकी कृति राजशेखर-चरित्रम् तेलगू के प्रथम उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुई है। आपने संस्कृत के अनेक नाटकों का तेलगू में अनुवाद भी किया है। अन्य की अपेक्षा उनके अनुवादों में विचारों की सरलता अधिक है। साथ ही, व्यर्थ का पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन तनिक भी नहीं। अंग्रेजी शिक्षा के आवेश में बहुत-से शिक्षित आन्ध्र-वासियों ने अंग्रेजी नाटकों को देखा, और तेलगू में भी उनका अनुकरण करना चाहा। ठीक इसी समय पारसी नाटक-समितियाँ प्रकाश में आईं, जिनमें हिन्दी के नाटक खेले जाते थे। उन्हें देखकर विजयानगरम् के

महाराज सर आनन्द गजपति ने अपने यहाँ संस्कृत-नाट्य-समिति स्थापित की, जिसमें संस्कृत के नाटक खेले जाते थे। । गुगपाक जमींदार ने भी एक नाट्य-समिति स्थापित की, जिसमें हिन्दी के नाटक खेले जाते थे। तभी से संस्कृत के नाटकों का तेलगू-अनुवाद आरम्भ हुआ। प्रथम ग्रन्थ जो संस्कृत से तेलगू में अनुवादित होकर प्रकाशित हुआ वह था "नरकसुरा विजय वियोगम्"। उसके बाद वीरेशलिङ्ग के अभिज्ञान शाकुन्तल और रत्नावली नाटक प्रकाशित हुए। अब दो और नाट्य-समितियाँ बेलरी और मद्रास में क्रमशः सरसविनोदिनी सभा तथा सगुनविलासिनी-सभा के नाम से स्थापित हुईं। उनके कुछ नाटक तो अत्यन्त उत्कृष्ट और प्रख्यात हुए यद्यपि उनका सृजन मूलतः संस्कृत प्रणाली पर ही हुआ था।

तेलगू के चल-चित्र न्यूनाधिक रूप में हिन्दी के अनुकरण-मात्र हैं। उनके गीतों में भी कोई विशेषता नहीं मिलेगी।

तेलगू के दैनिक-साप्ताहिक तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं :—

"आंध्र-पत्रिका दैनिक तथा साप्ताहिक दोनों रूप में प्रकाशित होती है। कृष्ण-पत्रिका एक ख्याति-प्राप्त साप्ताहिक है। श्री रामनाथ गोयनका द्वारा दैनिक आंध्रप्रभा प्रकाशित होती है। आनन्दवाणी, विहारी तथा त्रिलिङ्ग-नामक अन्य साप्ताहिक भी प्रकाशित होते हैं। कुछ ऐसी पत्रिकाएँ भी हैं, जो कुछ समय से तेलगू साहित्य की सेवा तो कर रही हैं, किन्तु भविष्य में अधिक समय तक उनके चलने की संभावना कम है, उनमें मन्जु-वाणी, कला-शारदा और प्रबुद्ध-आंध्र विशेष उल्लेखनीय हैं। डाक्टर केशरी की गृहलक्ष्मी-नामक एक-मात्र पत्रिका महिलाओं के लिए प्रकाशित होती है।'

पाठक ध्यान देंगे कि उक्त उदाहरणों में सभी पुस्तकों के नाम संस्कृत में हैं, और ये नाम केवल तेलगू में ही नहीं, भारत की सभी आर्य-भाषाओं में वैदिक-काल से लेकर आज तक प्रचलित रहे हैं।

तेलगू साहित्य में १९वीं शताब्दी तक जितने भारतीय ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, अधिकांशतः संस्कृत में हैं। बाद में उक्त साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ा, और ठीक यही दशा अन्य भारतीय साहित्यों की भी रही है। तेलगू साहित्य के उत्कृष्ट विद्वानों का विचार है कि तेलगू शब्द-भाण्डार में ७५ प्रतिशत शब्दों का रूपान्तर संस्कृत से हुआ है। तेलगू शब्द-कोष के अवलोकन से इस मत की पुष्टि भी हो जायगी। संयुक्तप्रांत और पंजाब की अपेक्षा तेलगू लोगों के सांसारिक जीवन, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ अथवा संगीत और नृत्य-सम्बन्धी सभी दृष्टिकोण सर्वथा भारतीय हैं। अतीत भारत के साहित्यिक इतिहास से भी इनकी विशेषता को स्वीकार करना होगा। निश्चय ही, उत्तर-भारतीय जन, जब कभी आंध्र-प्रदेश का इतिहास पढ़ेंगे तो उनके प्रति प्रेम और एकता के भाव से वे प्रभावित हुए बिना न रहेंगे।

फ़ारसी और अरबी से लदी हुई हिन्दुस्तानी की भाषा और विचार-धारा में आंध्र-निवासियों को किसी भाँति भी प्रभान्वित करने की क्षमता नहीं है। उस जाति के लिए तो यह पूर्णतया विदेशी सिद्ध होगी। बड़ी ही नासमझी का कार्य होगा, यदि हम दक्षिण-भारतीयों पर हिन्दुस्तानी, या दूसरे शब्दों में अरबी-फारसी से युक्त हिन्दी को लादने का प्रयत्न करेंगे। दूसरी ओर हिन्दी में उन्हें कुछ-न-कुछ तो अपनापन मिलेगा ही। हिन्दी के माध्यम से उन्हें भारतीय कला, कविता, पुराण, धर्म तथा मनोविज्ञान के उत्तम आदर्शों का परिचय अनिवार्यतः मिलेगा। हिन्दी और संस्कृत में एक सांस्कृतिक सम्बन्ध है। उत्तर भारत में हिन्दी जिस प्रकार संस्कृत की प्रमुख उत्तराधिकारिणी रही है, उसी प्रकार दक्षिण भारतीय-जनता द्वारा भी यह गौरव तथा सम्मान प्राप्त करेगी।

: २५ :

# हिन्दी और उर्दू का मुकाबला

( श्री रविशङ्कर शुक्ल )

जब हिन्दी वाले कांग्रेस वालों की हिन्दुस्तानी नामधारी उर्दू का या गांधी जी के हिन्दुस्तानीवाद का विरोध करते हैं तो उन्हें चुप करने के लिए प्राय. ताना दिया जाता है कि आप अपना काम-काज अँगरेजी में क्यों करते हैं, पते अँगरेजी में क्यों लिखते हैं, आदि; और अन्त में उन्हें उपदेश दिया जाता है कि हिन्दी का ठोस काम कीजिए और पीड़ा का नाट्य करते हुए उनसे पूछा जाता है—"जैसी उर्दू की उन्नति उर्दू वाले कर रहे हैं, वैसी हिन्दी वाले कर रहे हैं ? जैसा साहित्य-प्रकाशन उर्दू वाले कर रहे हैं वैसा करने वाली कोई हिन्दी की संस्था है ?" उनका मतलब होता है, हम और हमारे राष्ट्रीय नेता चाहे कुछ करें, हमसे कुछ मत कहो। इन तानों का उत्तर देना आवश्यक है। जहाँ तक अँगरेजी का सम्बन्ध है, हिन्दी वाले अँगरेजी का जो आश्रय लेते हैं उसकी वकालत करने की जरूरत नहीं, परन्तु वे लोग पहले यह बतलायें कि वे 'हरिजन' को अँगरेजी भाषा मे क्यों निकालते हैं ? कांग्रेसी-नेता अँगरेजी में वक्तव्य क्यों देते हैं और पण्डित नेहरू की लेखनी से अमर-साहित्य कम-से-कम उसी अटपटी 'हिन्दुस्तानी' में क्यों नहीं निकलता जिसे वे मञ्च से जनता की भाषा कहकर बोलते ? वर्तमान सरकार के पण्डित नेहरू-जैसे 'हिन्दुस्तानी' के धनी-धोरी

कांग्रेसी सदस्य अपने रेडियो से प्रसारित किये जाने वाले भाषण अँगरेजी में सोचकर, अँगरेजी में लिखकर, उनका सड़ा-सा 'हिंदुस्तानी' अनुवाद पहले सुनाकर फिर उन्हें अँगरेजी में क्यों सुनाते हैं? क्या गांधी जी का अंगरेजी 'हरिजन' केवल अंगरेज पढ़ते है अथवा क्या सरकारी सदस्यों के अँगरेजी भाषण केवल चीनी और जापानी सुनते हैं? अस्तु, यहाँ अँगरेजी की बीमारी की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं; उसमें हिन्दी वालों को ताना देने वाले भी उतना ही मुब्तला हैं जितने बेचारे हिन्दी वाले। यहाँ केवल इस प्रश्न के उत्तर में दो शब्द कहे जायंगे कि उर्दू वाले जो तरक्की और साहित्य-प्रकाशन कर रहे हैं उसके मुकाबले हिन्दी में क्या हो रहा है, उत्तर है, कुछ नहीं। कारण भी सुन लीजिए। उर्दू को जैसा राज्याश्रय १५० वर्ष से प्राप्त है, वैसा हिन्दी को आज भी प्राप्त नहीं। इसके लिए भी कांग्रेस जिम्मेदार है (उदाहरणार्थ, आल इंडिया रेडियो, देश की प्रायः सभी अदालतें, पुलिस-विभाग, म्यूनिसपैलटियाँ आदि, आदि) हिन्दी को राज्याश्रय देने के लिए अधिकांश प्रान्त आज भी तैयार नहीं। वे हिन्दी के लिए अपनी छोटी उँगली भी उठाने को तैयार नहीं। हिन्दी के पास कोई निजाम भी नहीं। यदि आज कोई हिन्दू राजा हिन्दी के लिए वही करे जो निजाम ने उर्दू के लिए किया है और कर रहा है तो सबसे पहले हिन्दी वालों को ताना देने वाले ही उसे साम्प्रदायिक घोषित करेंगे और सत्याग्रह करने चढ़ दौड़ेंगे, परन्तु श्री राजगोपालाचारी जाकर निजाम की पीठ ठोकते है और उस्मानिया-विश्वविद्यालय को 'हिंदुस्तानी' को शिक्षा का माध्यम बनाने के कारण 'प्रथम स्वदेशी विश्वविद्यालय' घोषित करते हैं। जिस प्रकार मौलाना आजाद उर्दू का समर्थन करते हैं और कर सकते हैं, उसी प्रकार हिन्दी का समर्थन गांधी जी पूरी तरह से कर रहे थे। जिस प्रकार श्री आसफअली कांग्रेस में रहते हुए शुद्ध उर्दू में बोलते हैं, उसी प्रकार डा० राजेन्द्रप्रसाद शुद्ध हिन्दी में बोलेंगे? जिस प्रकार डा० अब्दुल हक उर्दू के लिए सब-

कुछ करने को स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार टंडन जी भी हैं ? जिस प्रकार डा० जाकिर हुसैन हिन्दुस्तानी तालीमी सङ्घ में रहते हुए जामिया मिलिया के सर्वेसर्वा हैं, उसी प्रकार मि० श्रीमन्नारायण अग्रवाल हिन्दी की सेवा करेंगे ? जिस प्रकार एक 'नेशनलिस्ट' पत्र 'बाम्बे क्रानिकिल' के 'नेशनलिस्ट' सम्पादक श्री अब्दुल्ला 'बरेलवी उर्दू का समर्थन करते हैं, उसी प्रकार 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के सम्पादक देवदास गांधी हिंदी का पक्ष लेंगे ? जिस प्रकार पञ्जाब, मद्रास और बंगाल की सरकारें हिन्दी का विरोध और उर्दू का पोषण करती हैं, उसी प्रकार संयुक्त-प्रान्त, विहार और मध्यप्रांत की सरकारें उर्दू का विरोध करना तो दूर रहा, हिंदी का पोषण ही करती हैं या करेंगी ? उन पर तो 'हिन्दुस्तानी' का भूत सवार है न। वे तो उर्दू की उतनी ही, बल्कि अधिक, उन्नति करेंगी जितनी हिन्दी की, और दूसरी ओर हिंदी की सुन्नत करेंगी (जैसे विहार में)। हिन्दी के घर युक्त-प्रान्त की कॉंग्रेसी सरकार को ही लीजिए। उसने पीरपुर रिपोर्ट का उत्तर देते हुए अपनी पुस्तिका 'मुसलमान अकलियत और हकूमत सूबाजात मुतहहा' मे स्वयं स्वीकार किया था—"हकूमत ने कभी हिन्दी को उर्दू पर कैफियत नहीं दी बल्कि बाज़ मौक़ों पर उर्दू को तरजीह दी गई है...।" कांग्रेस के 'दुश्मन' अँगरेज बहादुर ने हिन्दी को मटियामेट करने का जो प्रयत्न किया था उसमें बहुत-कुछ सफलता पाई थी, वह यथेष्ट नहीं था, इसलिए जनता की प्रतिनिधि और सब मामलों में ब्रिटिश सरकार की विरोधी कांग्रेस ने भी उसी नीति को चालू रखना उचित समझा। क्या किसी ने यह आशा की थी कि राष्ट्रीय सरकार के आने से युक्त-प्रान्त में हिन्दी के दिन फिरेंगे, परन्तु कॉंग्रेस-सरकार ने हिन्दी को, और अपनी शक्ति से आगे बढ़ती हुई हिन्दी के पैर जमने में, सहायता देना तो दूर रहा, हिन्दी के साथ उतना न्याय भी नहीं किया, जितना एक बहुत बड़े बहुमत की भाषा

कई हिंदी-प्रांतों में पाठ्य-पुस्तकों से हिन्दी में अनुवाद करने के लिए एक लाख रुपया दिया जायगा तो उर्दू की पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के लिए भी एक लाख रुपया शीघ्र ही दिया जायगा, आदि। इसके विरुद्ध उर्दू प्रान्तों में क्या हो रहा है, वहाँ की सरकारें क्या कर रही हैं, और करेंगी ?

अब केंन्द्र पर दृष्टि डालिए। आज की मध्यकालीन सरकार में या तो उर्दू पर जान देने वाले हैं या 'हिन्दुस्तानी' पर जान देने वाले अर्थात् उर्दू-लिपि और उर्दू-शब्दों का देवनागरी और हिन्दी-शब्दों के साथ-साथ प्रचार चाहने वाले। वहाँ हिन्दी का कोई धनी-धोरी है ? जिस प्रकार सर सुलतान अहमद ने रेडियो-द्वारा उर्दू को पोषण किया था और आज भी कोई राष्ट्रवादी यदि उसे रेडियो-विभाग मिल जाय तो करेगा, वैसी हिन्दी की सेवा सरदार पटेल करेंगे ? जब इन काँग्रेसी नेताओं के मुँह से पहले विरोध का एक शब्द नहीं निकला तो आज क्या आशा की जा सकती है ? जिस प्रकार आज हिन्दी-प्रचारकों के दिल में खींचातानी और संशय पैदा हो गया है, वैसा कभी किसी मुसलमान प्रचारक के दिल में पैदा हो सकता है ? जिस प्रकार आज हजारों हिन्दू-प्रचारक उर्दू और उर्दू-लिपि के पीछे मतवाले हैं, उसी प्रकार किसी मुसलमान को भी हिन्दी और देवनागरी की चिन्ता है। वास्तव में हिन्दी वालों को ताना देने वाले जो प्रश्न पूछते हैं उसका उत्तर वे स्वयं हैं। हिन्दी को 'राष्ट्रीयता' के राहु ने ग्रस लिया है। एक ओर तो हिन्दुओं के लिए हिन्दी के साथ-साथ उर्दू और उर्दू-लिपि सीखना और सिखाना 'राष्ट्रीय' करार दिया जा रहा है और दूसरी ओर हिन्दी को 'कठिन', 'कृत्रिम' और न जाने क्या-क्या बताकर 'हिन्दुस्तानी' नामधारी उर्दू को 'राष्ट्रीय' बताया जा रहा है। हिन्दी का नाम लेना तो आज साम्प्रदायिकता है, फिर भला 'राष्ट्रीय' महा-पुरुष उसे कैसे पूछ सकते हैं ! और 'राष्ट्रीय' महापुरुषों के सिवा हिन्दी को पूछने वाला है ही कौन ? क्योंकि 'राष्ट्रीयता' केवल हिन्दुओं की

बपौती ठहरी; और उस 'राष्ट्रीयता' में न हिन्दी का कोई स्थान है और न हिन्दुत्व का।

यदि हिन्दी-उर्दू वाले प्रश्न को इस प्रकार रखा जाय कि जिस प्रकार मुसलमानों के राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक हितों की तरक्की करने के लिए एक ऐसी लीग है जिसके दरवाजे पर गाँधी जी भी नंगे-पाँव जाते थे और कॉंग्रेस भी मित्रता की भिक्षा माँगती रहती है, उसी प्रकार हिन्दुओं की कौन-सी संस्था है? तो परिस्थिति जल्दी समझ में आ जायगी। आज भारत की केन्द्रीय असेम्बली में स्पीकर की कुर्सी पर खडे होकर जोर से पूछिए, यहाँ कोई सिक्खों के हितों की रक्षा करने वाला है? उत्तर मिलेगा, हाँ। पूछिए, ईसाइयों की ओर से बोलने वाला कोई है, एंग्लो-इण्डियनों की तरफ से, यूरोपियनों की तरफ से, पारसियों की तरफ से कोई बोलने वाला है? प्रत्येक बार उत्तर मिलेगा, हाँ! पूछिए, मुसलमानों की तरफ से कोई बोलने वाला है? बहुत-से उत्तर साथ मिलेंगे, हाँ। फिर पूछिए, इस हिन्दुस्तान के ३० करोड हिन्दुओं की इस पुण्य-भूमि और जन्म-भूमि को, राम और कृष्ण की इस लीला-भूमि की केन्द्रीय-प्रतिनिधि-सभा में कोई ऐसा भी है जो हिन्दुओं के हितो की रक्षा के लिए बोल सके? कोई उत्तर नहीं मिलेगा। जिस असेम्बली में सत्यार्थप्रकाश के रक्षार्थ कोई हाथ न उठा वहाँ हिन्दी की रक्षा कौन करेगा? स्वर्गीय मालवीय जी को वृद्धावस्था में दीर्घ-मौन के बाद यह क्यों कहना पडा कि हिन्दुओं के धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकार कॉंग्रेस के हाथ में सुरक्षित नहीं हैं।

यह भूलना नहीं चाहिए कि अब कुछ और कहा जाय, अन्ततोगत्वा हिन्दी और उर्दू का मामला, हिन्दू और मुसलमान का मामला है। जिस प्रकार आज राजनीति के मैदान में या तो मुसलमान हैं या तथाकथित 'राष्ट्रीय,' उसी प्रकार या तो उर्दू को राष्ट्र-भाषा मानने-वालों का बोल-बाला है, या 'हिन्दुस्तानी' (हिन्दी+उर्दू) और

"दोनों लिपि' का। अभी हाल में आन्ध्र के मुसलमानों का एक डेपुटेशन मौलाना आज़ाद से मिला था और यह इच्छा प्रकट की थी कि उनकी शिक्षा का माध्यम तेलगू के बजाय उर्दू हो। कहते हैं, मौलाना आज़ाद ने उनकी सिफारिश मद्रास के तत्कालीन प्रधान-मन्त्री से की थी। जिस प्रकार भारत का हर एक मुसलमान उर्दू पर पर जान देता है उसी प्रकार अहिन्दी-हिन्दुओं की कौन कहे, हिन्दी-हिन्दू भी नहीं दे सकते—उनमें भी डा० ताराचन्द और पण्डित सुन्दरलाल-जैसे महापुरुष उत्पन्न हो गए हैं। अहिन्दी हिन्दुओं को तो अब हिन्दी की चिन्ता रह ही नहीं गई है। भारत-भर के मुसलमानों की शक्ति और साधन उर्दू में लगे हुए हैं, परन्तु हिन्दुओं का प्रकाशन और ठोस या पोला काम एक नहीं, दस-बारह भाषाओं में, जिनमें उर्दू भी शामिल है, हो रहा है। जिस भाषा की पीठ पर राज्य-सत्ता हो, जिसके दस करोड़ अखण्ड अनुयायी हों, जिसे 'राष्ट्रीय' महापुरुषों द्वारा भी हिन्दी के समकक्ष स्थान दिया जाकर उसका राष्ट्रीय प्रकरणों में समान प्रचार अनिवार्य करार दे दिया गया हो, जिस पर अकेले निजाम ने कई करोड़ (और वह भी हिन्दू-कर-दाताओं का ही) आज तक खर्च कर दिया हो, जिसकी सर्वाङ्गपूर्ण वृद्धि के लिए निजाम ने अ-उर्दू प्रदेश में ही ५० लाख रुपया लगाकर एक विश्व-विद्यालय खड़ा कर दिया हो, जिस पर आज भी प्रतिवर्ष लाखों रुपया खर्च करता हो, जिसके प्रचार-प्रसार के लिए निजाम लाखों रुपये प्रतिवर्ष गुप्त दान देता हो, जिसके पीछे लीग-जैसी राजनीतिक संस्था हो, उसकी तरक्की और प्रकाशन का बेचारी हिन्दी से क्या मुकाबला, जिसके पीछे आज स्वयं हिन्दू लट्ठ लिये घूम रहे हों और जिसकी सुन्नत करने की फिराक में स्वयं हिन्दी-भाषी हों।

यह तो प्रश्न-कर्त्ताओं को स्वयं सोचना चाहिए कि संख्या और साधनाओं में हिन्दुओं के अधिक होते हुए भी हिन्दी-उर्दू के मुकाबिले में पिछड़ रही है, जब कि वैयक्तिक दृष्टि से एक हिन्दी वाला

एक उर्दू वाले से किसी प्रकार कम नहीं; ढोल पीटने में भी और ठोस काम करने में भी। आज गान्धी जी ने हिन्दी के कैम्प में जो फूट डाली है और उन्होंने जिस 'वाद' को 'राष्ट्रीयता' का जामा पहनाया है, उसका यह परिणाम तो होना ही है कि अपने दस करोड़ अखण्ड और अशङ्क अनुयायियों के बल पर उर्दू भारत की सबसे शक्तिशालिनी भाषा और वास्तविक राष्ट्र-भाषा हो जायगी और उसके स्टीम रोलर के नीचे अकेली हिन्दी ही नहीं, सभी प्रान्तीय भाषाएँ पिस जायंगी। गांधी जी की गुजराती भी और शरत् तथा टैगोर की बँगला भी। आगे देखिए, बङ्गाल में, मद्रास में; बम्बई में कैसा भीषण उर्दू-बँगला उर्दू-तेलगू, उर्दू-तामिल, उर्दू-मराठी और उर्दू-गुजराती युद्ध छिड़ता है। 'हिन्दुस्तानी' तो न कोई चीज़ है और न कभी होगी।

: २६ :

# भारत की राष्ट्र-भाषा

( श्री मौलिचन्द्र शर्मा )

विधान-परिषद् की आगामी बैठक में राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उपस्थित होगा, ऐसी आशा है। वह राष्ट्र-भाषा भारतीय भाषाओं में से एक होनी चाहिए, यह सर्वमान्य है। भारतीय भाषाओं में से ऐसी एक भाषा राजस्थान से बिहार तक के मध्यस्थ-देश की भाषा के आधार पर ही बनेगी, ऐसा भी प्रायः सर्वमान्य है। मतभेद उस भाषा के व्याकरण अथवा ढाँचे के विषय में नहीं, शब्दावलि और लिपि के विषय में है। हिन्दी और हिन्दुस्तानी दोनों ही का धातु-पाठ, विभक्ति प्रत्यय, व्याकरण और मौलिक-स्वरूप एक ही है। भारतीय शब्दावलि सहित भारतीय-लिपि देवनागरी में लिखी जाने पर यह हिन्दी कहलाती है, और अभारतीय शब्दावलि आंशिक रूप से ग्रहण करके जब यह देवनागरी के साथ-साथ अभारतीय-लिपि फारसी और कुछ लोगों के मत से अभारतीय-लिपि रोमन मे भी लिखी जाती है, तब इसे हिन्दुस्तानी कहते हैं।

**भारतीय भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव**—इतने विवेचन ही से स्पष्ट हो जायगा कि शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से तो हिन्दी के रहते अभारतीय तत्वों वाली हिन्दुस्तानी अग्राह्य होनी चाहिए। अहिन्दी-भाषी प्रान्तों की सुविधा को देखते हुए हिन्दी सबके लिए सहज और उपयुक्त स्थिर

होती है। पूर्व-भारत में बंगला, असामी और उड़िया बोली जाती है। तीनों का वाङ्मय संस्कृत शब्दावलि पर आधारित है और इन सबका लिपि भी देवनागरी के समान ही ब्राह्मी से उद्भूत और देवनागरी ही का प्रतिरूप है। पश्चिम भारत में मराठी और गुजराती की लिपि तो देवनागरी है ही, शब्दावलि भी हिन्दी ही के समान संस्कृत-मूलक है। दक्षिण की चार भाषाएँ यद्यपि संस्कृत वंश की नहीं हैं, परन्तु सहस्रों वर्ष से संस्कृत-कुटुम्ब में इतनी गूढ़ निष्ठा सहित मिल चुकी हैं, कि तमिल को छोड अन्य तीन दक्षिणी भाषाओं का वाङ्मय तो अनेक स्थानों पर उत्तर-भारतीय भाषाओ से भी अधिक संस्कृत-निष्ठ मिलता है। तमिल में भी प्रायः आधी शब्दावलि संस्कृत से ही आई है। दक्षिण की सब भाषाओ तथा लंका की भाषाओं की लिपियाँ भी ब्राह्मी से उत्पन्न हुई हैं और देवनागरी के ही सदृश हैं।

**समान प्रवृत्तियाँ**—इसी प्रकार इन सब भाषाओं के साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी के सदृश है। दर्शन, व्याकरण, पुराण, इतिहास, विज्ञान, धर्म-शास्त्र, समाजनीति, अर्थनीति, राजनीति, कला इत्यादि जीवन के सभी अंगों के सम्बन्ध में सब भारतीय भाषाओं में एक-सी विचार-धारा प्रवाहित हुई है। उनका स्रोत, एक है—भारतीय संस्कृति। उनका लक्ष्य भी एक है—इसी भारतीय संस्कृति के आधार पर भारत राष्ट्र का उत्थान और नव-निर्माण। बाहर से जो कुछ भी उनमें आया और आयगा, वह भारतीय ही बनकर आयगा और रहेगा। इस कारण से प्रान्तीय-भाषा-भाषियों को हिन्दी अध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक सभी कारणों से निकटतर, और सहजतर है।

**हिन्दुस्तानी का प्रश्न**—फिर यह कैसा आश्चर्य है कि हमारे देश के अनेक सुपठित और विचारशील, अथवा अभी तक अभारतीय तत्वों से दूषित हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा पद पर प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं। मैं यह नहीं मानता कि वे राष्ट्र-हित से प्रेरित नहीं है, परन्तु कुछ सामाजिक और ऐतिहासिक कारणों से उनके मनों में यह

भ्रान्त-धारणा घर कर गई है कि जिन अभारतीय तत्त्वों का सन्निवेश हिन्दुस्तानी में होता है उनके स्वीकार किये बिना भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधा पड़ेगी। आइये, इस धारणा को भी तर्क की कसौटी पर कस लें।

हमारा पिछले प्राय: ४० वर्ष का राजनैतिक आन्दोलन का इतिहास हिन्दू-मुस्लिम अथवा यदि अधिक शुद्ध कहें तो कांग्रेस और मुस्लिम-लीग वाली प्रवृत्तियों के संघर्ष का इतिहास है। लीगी-प्रवृत्ति इस्लाम-धर्म-जन्य उस 'तअस्सुब' का राजनीतिक रूप है, जो मुसलमान को परधर्मी से घृणा करना, और उससे असहिष्णुता-पूर्वक अलग रहना सिखाता है। अन्यथा ऐसी मनोवृत्ति और विदेशी धर्मों को मानने वाले अन्य लोगों में भी देखने को नहीं मिलती। ईसाई इस देश में १६ सौ वर्ष पुराने हैं; परन्तु कभी भी वे अभारतीय नहीं बने। पारसी इस देश में १२ सौ वर्ष से अधिक हुए तब आए। वे भारतीय बन गए और हमारे राष्ट्र का एक विश्वस्त और दृढ़ अंग हो गए; परन्तु मुसलमान भारतीय संस्कृति को सदा से अस्वीकार करता आया है और उसकी यही साध रही है कि जिस प्रकार कुछ समय तक उसने यहाँ इस्लामी-राज्य स्थापित करने में सफलता पाई, वैसे ही वह यहाँ की संस्कृति को इस्लामी बना सके। दूसरे कई देशों में इसमें उसे सफलता मिली है। तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान आदि अन्य अरब देशों में, इस्लामी-राज्य के साथ-साथ इस्लाम-धर्म और संस्कृति व्याप्त हो गई। तुर्की और फारसी भाषाओं पर भी अरबी का गहरा रंग चढ़ा। भारत में फारसी भाषा को व्यापक रूप देने में जब उन्हें असफलता मिली तो भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी का इस्लामी-करण आरम्भ किया, उसी का फल थी उर्दू। उर्दू का अर्थ है वह हिन्दी जिसके मौलिक ढाँचे और व्याकरण को छोड़ शेष सब-कुछ अरबी, फारसी और इस्लामी है—लिपि, शब्दावलि, और भावावलि तथा छन्द तक परदेशी हैं।

बापू की नीति—मुसलमानों की जिस प्रवृत्ति ने हिन्दी को उर्दू रूप दिया, उसी प्रवृत्ति ने भारतीय राष्ट्रीयता के उत्थान-काल में मुस्लिम लीग को जन्म दिया। उससे भी पहले इसी प्रवृत्ति ने इस देश में मुसलमानों को तुर्की टोपी पहनना सिखाया। उर्दू बनाने वाले मुसलमान पहले लखनऊ को 'इस्फहान' बनाने का स्वप्न देखते थे। अनवर पाशा के पान-इस्लाम के युग में उन्होंने तुर्की टोपी पहनी। बापू को अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय-युद्ध में जब मुसलमानों का साथ सीधे रास्ते न मिला तो स्वराज्य के साथ खिलाफत का गठ-बन्धन किया गया। अन्यथा हमारे वे नेता, जो धर्म-मूलक राज-व्यवस्था के इतने विरोधी हैं, उन्हें तो धर्म-मूढ तुर्की की जनता को खलीफा से मुक्ति पा एक 'सिक्यूलर स्टेट' की स्थापना करने पर बधाई देनी चाहिए थी, और खिलाफत-सदृश धार्मिक-शासन के पुनः संस्थापन का घोर विरोध करना चाहिए था। परन्तु जैसे भी हो मुसलमानों को अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध अपने साथ मिलाना तो था। यहाँ के आन्दोलन से खिलाफत फिर से जमने वाली नहीं थी। यदि इस मोह में भारतीय मुसलमान कांग्रेस के साथ हो जाते तो यह नीति बुरी नहीं थी।

परन्तु दैव हम पर हँस रहा था। मुसलमान अंगरेज का विरोधी तो नहीं हुआ, परन्तु खिलाफत की जड़ में जो पान-इस्लामी और अमुस्लिम-द्रोही तथा भारत से बाहर बन्धन तोड़ने की प्रवृत्ति थी उसे हमारे ही हाथों पुष्टि मिली। भारत में फिर से इस्लामी-राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा जाने लगा। आधे अछूतों को मुसलमानों के हवाले कर देने की माँग राष्ट्रीय-मुसलमानों के आदर्श मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस के सभापति के रूप में भाषण देते हुए की थी। उस राष्ट्रीय-मुस्लिम मौलाना के मन में भारत की संपत्ति को आधा बँटवा लेने की इच्छा उस समय ही थी। मौलाना शौकतअली ने एक प्रसिद्ध भाषण में युक्त-प्रान्त से मुरक्की तक मुस्लिम राज्यों की शृंखला के स्वप्न का

वर्णन गौरव से किया। ये लोग राष्ट्रीय मुसलमान थे। लीगी तो सारे भारत को इस्लामी राज्य बनाना अपना कर्तव्य समझते थे। राष्ट्रीय और लीगी मुसलमानों में जिस वस्तु पर सदा एक मत रहा, और है; वह है उर्दू या एतत्सदृश हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनवाना।

**अराष्ट्रीय माँग**—खिलाफत ही की तरह हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने मुस्लिम-तुष्टि के विचार से फारसी-अरबी-मिश्रित हिन्दी अर्थात् उर्दू का हिन्दुस्तानी नामकरण कर राष्ट्र-भाषा पद के लिए उसे स्वीकार किया। परन्तु जहाँ सबसे यह कहा जाता था कि प्रचलित विदेशी शब्दों का ग्रहण बुरा नहीं है, वहाँ फारसी लिपि को स्वीकार करने की बात किसी प्रकार संगत सिद्ध नहीं हो सकती थी। अतः स्पष्ट मानना पड़ता था कि मुसलमानों को दूसरी लिपि स्वीकृत नहीं है, इसलिए फारसी लिपि रखनी ही होगी। मुसलमानों की यह माँग उतनी ही अराष्ट्रीय थी जितना उनका दो राष्ट्रीयता वाला सिद्धान्त और पाकिस्तान की माँग।

**फिर भूल न करें**—अब जब कि मुसलमानों का अलग राष्ट्र बन गया और उनकी संस्कृति की प्रतीक उर्दू वहाँ की राष्ट्र-भाषा बन गई, तब भी कुछ लोग फारसी लिपि वाली, अरबी शब्द-संकुल हिन्दुस्तानी को भारत पर थोपने की बात कहते हैं वह भी इसीलिए कि मौलाना आज़ाद के सह-धर्मियों को भारतीय भाषा और लिपि सीखने से इंकार है। यह इंकार आज से नहीं सैकड़ों वर्षों से चला आ रहा है। कुछ दिनों पहले युक्त-प्रान्त के मुसलमानों को हिन्दुस्तान से भी इंकार था। आखिर उन्होंने ही तो पाकिस्तान बनवाया। क्या उनकी इस दो राष्ट्रों वाली नीति पर अवलम्बित भारतीय-राष्ट्रीयता के अस्वीकार करने की प्रवृत्ति को स्वीकार कर हम अपनी राष्ट्रीयता को बल पहुँचायेंगे। खिलाफत के समय ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध मुसलमानों का सहयोग लेने के लिए उस के मूल्य-स्वरूप खिलाफत-आन्दोलन को उठा लेना नीति-संगत कहा जा सकता था; परन्तु आज जब कि हम भारत में एक स्वतन्त्र लोकतंत्रीय निर्धर्म-राज्य का निर्माण कर रहे हैं तब एक

उसी एक राष्ट्र का अस्वीकार, धर्मान्धता-जनित भारतीय-संस्कृति-विरोध की प्रत्यक्ष प्रवृत्तियों के कारण जो लोग कर रहे हैं, उनकी तुष्टि के लिए अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की आधार-भूत राष्ट्र-भाषा में अभारतीय तत्त्वों का समावेश करना हमारे लिए बहुत बड़ी भूल होगी।

साम्प्रदायिकता से समझौता नहीं—हमें साम्प्रदायिकता की जड़ें उखाड़ फेंकनी हैं। उर्दू भाषा साम्प्रदायिकता का रूप है। उसके साथ समझौता हिन्दुस्तानी है। जो चाहता है कि साम्प्रदायिकता इस देश से उठ जाय, वह उससे समझौता नहीं कर सकता। भारतीय मुसलमानों को हमें पश्चिम के स्वप्न देखने वाला असन्तुष्ट 'पाँचवाँ कालम' नहीं रहने देना है। हमें उसे अपने ही जैसा पूर्ण भारतीय बनाना है। वैसा वह तभी बनेगा जब वह हिन्दी को स्वीकार कर लेगा।

अतः मेरी दृष्टि में हिन्दी और हिन्दुस्तानी का प्रश्न केवल भाषा का प्रश्न नहीं है, प्रत्युत देश-द्रोही-साम्प्रदायिकता को दृढ़ता-पूर्वक उखाड़ फेंकने अथवा दुर्बलता-पूर्वक उसके सामने सिर झुकाने का प्रश्न है। भारतीय-संघ में जितना देश आज समाविष्ट है वह अनेक नहीं, एक है, अथवा होना चाहिए। भारत का मुसलमान भारतीय बनाया जाना चाहिए, उसकी भावनाएं भारतीय हो जानी चाहिएं, उसे भारत का सब-कुछ अपना लगना चाहिए। उसका मुख अरब के रेगिस्तान से हटकर भारत की शस्य-श्यामला भूमि की ओर फिरना चाहिए। उसे अरबी के शब्द छोड़ संस्कृत के शब्द सीखने चाहिएं। उसे अपूर्ण अभारतीय लिपियाँ छोड़ देवनागरी लिपि सीखनी चाहिए। यदि वह इच्छा-पूर्वक ऐसा नहीं करता तो उसकी अनिच्छा रहते हुए भी राष्ट्रीय-कल्याण के हेतु हमें यह कराना ही होगा। दब्बूपन छोड़ कर हमें दृढ़ता-पूर्वक राष्ट्र-निर्माण के पथ पर बढ़ना होगा। तभी हम भली प्रकार फल-फूल सकेंगे।

◆

: २७ :

# भाषा का प्रश्न

( कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त )

आजकल जो अनेक समस्याएँ हमारे देश के सामने उपस्थित हैं उनमें भाषा का प्रश्न भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। इधर पत्र-पत्रिकाओं में किसी-न-किसी रूप में इसकी चर्चा होती रहती है और इस संबंध में अनेक सुझाव भी देखने को मिलते हैं। इस प्रश्न के सभी विवादपूर्ण पहलू लोगों के सामने आगए हैं और उन पर यथेष्ट प्रकाश भी डाला जा चुका है।

इस समय हमें अत्यन्त धीरज, साहस तथा सद्भाव से काम करने की आवश्यकता है। भाषा मनुष्य के हृदय की कुंजी है, और किसी भी देश या राष्ट्र के संगठन के लिए एक अत्यन्त सरल साधनों में से है। विश्व-मानवता का मानसिक संगठन भी भाषा ही के आधार पर किया जा सकता है। वह हमारे मन का परिधान या लिबास है। उसके माध्यम से हम अपने विचारों आदर्शों, सत्य-मिथ्या के भावों तथा अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों को सरलता पूर्वक व्यक्त कर एक दूसरे के मन में वहन करते हैं। भाषा, संस्कृति ही की तरह, कोई स्वभावज सत्य नहीं, एक संगठित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त तथा परिष्कृत होती है। अगर हमारे भीतर भाषा का स्वर संगठित नहीं होता तो हम जो-कुछ शब्द ध्वनियों या लिपि-संकेतों

द्वारा कहते है, और अपनी चेतना के जिन सूक्ष्म भावों का अथवा मन के जिन गुणो का परस्पर आदान-प्रदान करना चाहते हैं वह सब संभव तथा सार्थक नहीं होता।

इस दृष्टिकोण से जब हम अपने युग तथा देश की परिस्थितियों पर विचार करते हैं तो हमे यह समझने में देर नहीं लगती कि अपने देश की जनता में उसके विभिन्न वर्गों और संप्रदायो में एकता स्थापित करने के लिए तथा अपने राष्ट्रीय जीवन को सशक्त, संयुक्त एवं संगठित बनाने के लिए हमें एक भाषा के माध्यम की नितांत आवश्यकता है, जिसका महत्त्व किसी भी दूसरे तर्क या विवाद से घटाया नहीं जा सकता। यह ठीक है कि हमारी सभी प्रांतीय भाषाएँ यथेष्ट उन्नत हैं, उनका साहित्य पर्याप्त विकसित है और वे अपने प्रांतो के राज-काज को सँभाल सकती हैं। किंतु राष्ट्र-भाषा के प्रचार तथा अभ्युदय से प्रांतीय भाषाओं के विकास में किसी प्रकार की क्षति या बाधा पहुँच सकती है इस प्रकार का तर्क समझ में नही आता। वास्तव में राष्ट्र-भाषा या एक भाषा का प्रश्न अगली पीढ़ियों का प्रश्न है। आज की पीढी के हृदय में मध्ययुगो को इतनी विकृतियाँ और संकीर्णताएं अभी अवशेष हैं कि हम छोटे-मोटे गिरोहो, संप्रदायो, वादो और मतों में बँटने की अपनी ह्रासयुग की प्रवृत्तियो को छोड़ ही नहीं सकते। विदेशी शासन के कारण हमारी चेतना इतनी विकीर्ण तथा पराजित हो गई है कि हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते और अपने स्वार्थों के बाहर, एक सबल संतुलित राष्ट्रीय संगठन के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान जरा भी नहीं जाता। अगली पीढ़ियाँ अपनी नवीन परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय आदर्शों के गौरव के प्रति अधिक जाग्रत और प्रबुद्ध हो सकेंगी इसमें संदेह नही। उनके हृदयों में अधिक स्फूर्ति होगी, रक्त में नवीन जीवन, तथा प्राणों में अदम्य उत्साह एवं शक्ति होगी। वे अपनी प्रांतीय

भाषा के साथ राष्ट्र-भाषा के वातावरण में भी बढ़ेंगी और उसे भी आसानी में सीख लेंगी।

आज तक हम सात समुद्र पार की विदेशी भाषा को तोते की तरह रटकर साक्षर तथा शिक्षित होने का अभिमान ढोते गए हैं। तब प्रांतीय भाषाओं के जीवन का प्रश्न हमारे मन में नहीं उठता था। आज जब राज-काज में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण करने जा रही है तब प्रांतीय भाषा-भाषियों का विरोध हठधर्मी की सतह पर पहुँच गया है। धार्मिक सांप्रदायिकता के जाल से मुक्त होकर अब हम भाषा-संबन्धी सांप्रदायिकता की दलदल में डूबने जा रहे हैं!

सौभाग्यवश हमारी सभी प्रांतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा रही है। दक्षिणी भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग बढ़ने लगा है। उत्तर भारत की भाषाएँ तो विशेष रूप से संस्कृत के सौष्ठव, ध्वनि-सौन्दर्य, तथा उसकी चेतना के प्रकाश से अनुप्राणित तथा जीवित हैं। अगर हम अपनी हठधर्मी से लड़ सकें तो मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों हम आज हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में एकमत होकर स्वीकार न कर सकें। अन्य प्रांतीय भाषाओं की तुलना में राशि (जनसंख्या) तथा गुण (सरलता, सुबोधता, उच्चारण-सुविधा आदि) की दृष्टि से भी हिन्दी का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख है।

हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का प्रश्न इससे कुछ अधिक जटिल तथा विवादपूर्ण है। एक तो दोनों की जनक-भाषाएँ आमूल भिन्न हैं। हिन्दी संस्कृत की संतान है। उर्दू-फारसी और अरबी की। फिर अभी हम दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम संप्रदायों में विभक्त हैं, हमारे सांस्कृतिक, दृष्टिकोणों में भी सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया है। फलतः हिन्दी और उर्दू को भी हम दो विभिन्न संस्कृति की चेतनाओं तथा उपादानों की वाहक मानने लगे हैं। पर यह पुरानी दुनिया का इतिहास है। संसार में आज सभी जातियाँ,

वर्गों, समूहों या संप्रदायों में धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की विरोधी शक्तियों का संघर्ष देखने को मिलता है जो आगे चलकर आने वाली दुनिया में अधिक व्यापक सामंजस्य ग्रहण कर सकेगा और मनुष्य को मनुष्य के अधिक निकट ले आयगा। भिन्न-भिन्न समूहों की अंतचैंतना के संगठनों में साम्य, सद्भाव तथा एकता स्थापित हो जायगी। इसे अनिवार्य तथा अवश्यंभावी समझना चाहिए।

हमें हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा के—उसे आप युक्तप्रांतीय भाषा कह लें—दो रूप मानने चाहिएं। दोनों एक ही जगह फूली-फली हैं। दोनों के व्याकरण में, वाक्यों के गठन, संतुलन में तथा प्रवाह आदि में पर्याप्त साम्य है—यद्यपि उनके ध्वनि-सौन्दर्य में विभिन्नता भी है! साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एक ही भाषा की दो चोटियाँ हैं, जिनमें से एक अपने निखार में संस्कृत-प्रधान हो गई है, दूसरी फारसी-अरबी प्रधान। और उनका बीच का बोल-चाल का स्तर ऐसा है जिसमें दोनों भाषाओ का प्रवाह मिलकर एक हो जाता है। हिन्दी-उर्दू के एक होने में बाधक वे भीतरी शक्तियाँ हैं जो आज हमारे धार्मिक, सांप्रदायिक, नैतिक आदि संकीर्णताओं के रूप में हमें विच्छिन्न कर रही हैं। भविष्य में हमारे राष्ट्रीय निर्माण में जो सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ काम करेंगी वह बहुत हद तक इन विरोधों को मिटाकर दोनों संप्रदायो को अधिक उन्नत और व्यापक मनुष्यत्व में बाँध देंगी। भीतरी कारण नहीं रहेंगे अथवा पंगु हो जायंगे।

इस समय हमारा चेतन मानव-प्रयास इस दिशा में केवल इतना ही हो सकता है कि हम दोनों भाषाओं को मिलाने के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकें। वह आधार इस समय स्थूल आधार ही हो सकता है—और यह है नागरी लिपि। सरकार को हिन्दी-उर्दू-भाषियों के लिए, राज-काज में, एक ही लिपि को

स्वीकार कर उसका प्रचार करना चाहिए। यही नीति हमारे शिक्षा-केन्द्रों की भी होनी चाहिए। हमें इस समय भाषा के प्रश्न को बल-पूर्वक सुलझाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। केवल लिपि के आधार पर जोर देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नागरी लिपि उर्दू से ही नहीं, संसार की सभी लिपियों से शायद अधिक सरल, सुबोध तथा वैज्ञानिक है और इसमें समयानुकूल छोटे-मोटे परिवर्तन आसानी से हो सकते हैं।

भाषा का सूक्ष्म जीवन लिपि का आधार पाकर अपनी रक्षा अपने-आप कर सकेगा। उसे आने वाली पीढ़ियाँ अपने जीवन के रक्त से, अपनी प्रीति के आनंद से तथा स्वप्नों के सौन्दर्य से सामंजस्य प्रदान कर सकेंगी। वह मेल अधिक स्वाभाविक नियमो से संचालित होगा। आज हम बलपूर्वक हिन्दुस्तानी के रूप में कृत्रिम और कुरूप प्रयत्न दोनों को मिलाने का कर रहे हैं। यह हमे कहीं नहीं ले जायगा। क्योंकि ऐसे सचेष्ट प्रयत्न किन्हीं आंतरिक नियमों के आधार पर ही सफल हो सकते हैं। ऐसे बाहरी यत्नों से हम भाषा का व्यक्तित्व, उसका सौष्ठव तथा सौन्दर्य बनाने के बदले बिगाड़ ही देंगे। भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों की भाषाओं के जीवन को सामने रखते हुए मैं सोचता हूँ कि हिन्दी-उर्दू का मेल संस्कृत के ध्वनि-सौन्दर्य, रुचि-सौष्ठव तथा व्यक्तित्व के आधार पर ही सफल हो सकेगा। किन्तु सचेष्ट प्रयत्नों के अलावा भाषा का अपना भी जीवन होता है और आने वाली पीढ़ियाँ नवीन विकसित परिस्थितियों के आलोक में भाषा को किस प्रकार सँवारेंगी, यह अभी किसी गणित के नियम से नहीं बतलाया जा सकता।

# हमारी भाषा और लिपि की समस्या

( प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल )

प्रश्न उठता है कि हमारी भाषा और लिपि का प्रश्न आज इतना उग्र क्यों हो उठा है ? पग-पग पर आदरणीय महात्मा जी का नाम इस द्वन्द्व के साथ जुडा देखकर तो आश्चर्य की सीमा नही रहती। भारत की एकता आज खतरे में हो सकती है, परन्तु युगों से वह अक्षुण्ण थी, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। इतने बडे देश के विशाल जन-समूह को युगों तक यदि संस्कृत भाषा ने एक सूत्र में बाँधकर रखा था, तो उसके बाद अन्य देशी भाषाओं ने भी अपनी-अपनी सीमाओं में अपने उत्तरदायित्व का समुचित निर्वाह किया था। उत्तर और दक्षिण की भाषाओं में 'कुल-भेद' होते हुए भी संस्कृत के परम्परागत प्रभाव ने उन्हें एक दूसरे से बहुत पृथक् नहीं होने दिया था। सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता के कारण आज से सदियों पहले भी भारतीयों का अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध कम घनिष्ठ न था। उस समय भी पारस्परिक व्यवहार के लिए मध्य-उत्तर-भारत की प्रचलित भाषा ही काम में लाई जाती थी। इसका प्रमाण आज से लगभग ४०० वर्ष प्राचीन कागज़-पत्रों से चल सकता है, जो आज भी जगन्नाथपुरी तथा रामेश्वर के कुछ पण्डों के पास सुरक्षित हैं। यदि उस समय धार्मिक अथवा व्यावसायिक कारणों से हमें अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित

करने के लिए एक चालू भाषा की आवश्यकता पड़ी थी, तो आज प्रधानतः राष्ट्रीय सन्देश के प्रचार एवं विस्तार के लिए देश-व्यापिनी साधारण भाषा की आवश्यकता आ पड़ी है। भेद इतना ही है कि आज का वातावरण राजनीति, कूटनीति इत्यादि विविध मत-मतान्तरो के विषावत वायु-मण्डल से दूषित है। किन्तु उस समय के लोगो की भावना अधिक पवित्र थी। प्रत्येक वस्तु का ग्रहण अथवा त्याग उसकी न्यायोचित उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता पर निर्भर हुआ करता था।

भाषा बनाम धर्म—आज की भाषा-विषयक समस्या साम्प्रदायिक पक्षपातों के कारण और अधिक जटिल हो उठी है। आज प्रायः धर्म और संस्कृति की आड़ लेकर ही भाषा के प्रश्न पर विचार किया जाता है। भारतवर्ष सदा से धर्म-प्रधान देश रहा है। प्राचीन संस्कृति की प्रतिष्ठा यहाँ के जीवन की विशेषता रही है। देश के अन्य नेता धर्म के प्रश्न से उदासीन रह सकते है; परन्तु श्रद्धेय महात्मा जी के जीवन में यह सदा से ही प्रमुख रहा है। भाषा और लिपि ही क्या, शायद राष्ट्रीय उद्योग के किसी पग पर भी उन्होंने धार्मिक चेतना को गौण नहीं होने दिया। इस दृष्टिकोण की उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु धर्म के साथ उर्दू या हिन्दी को अनिवार्य रूप से जोडना कहाँ तक न्यायसंगत है, यह प्रश्न विचारणीय है।

सैकड़ों वर्षो से भारत के एक बड़े जन-समुदाय की विचार-धारा हिन्दी में ही प्रवाहित हुई है। मध्य-युग की सूर, तुलसी और कबीर जैसे महात्माओं की वाणी धार्मिक उपदेश ही है तथा उनकी पूजा भी उसी प्रकार होती है, फिर भी हिन्दुओं की धार्मिक भाषा का पद आज भी देववाणी संस्कृत के द्वारा ही सुशोभित है। सभी पुण्य कार्यों के अवसर पर मन्त्रोच्चारण संस्कृत में ही होता है! इसी प्रकार मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थ भी सब अनिवार्य रूप से अरबी में ही हैं और उनके सभी धार्मिक कृत्यों का प्रतिपादन अरबी के ही माध्यम से होता है। कुछ ही वर्षों पहले अरबी में लिखे गए कुरआन का उर्दू में तर्जुमा

करना भी कुफ़्र से कम न था। हिन्दी में तो संस्कृत का प्राचीन साहित्य क्या धार्मिक और क्या अन्य—प्रायः सभी आ चुका है, किन्तु उर्दू तो आज भी इस्लाम के क्षेत्र में पूर्ण प्रवेश नहीं पा सकी है। काव्य-प्रधान उर्दू का साहित्य विचार-परम्परा, काव्य-प्रणाली, एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लिए अरबी की अपेक्षा फ़ारसी का अधिक ऋणी है। आज के कुछ अनुवादों को छोड़कर प्रायः सारा उर्दू-साहित्य दर्शन अथवा अध्यात्म की अपेक्षा बुद्धिवाद से ही प्ररित है। किन्तु धर्म का मूल तो तर्क नहीं, विश्वास है। अतः उर्दू भाषा या साहित्य के दामन में धर्म को या इस्लामी संस्कृति को बाँधना या हिन्दी के साथ हिन्दू धर्म का गठ बन्धन करना उचित नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म एवं संस्कृति की सात्विक भावना तो सुरक्षित रहनी ही चाहिए। न केवल हिन्दू या मुसलमानों ही के लिए, वरन् अन्य सम्प्रदायों के लिए भी इसी नीति का अनुसरण होना चाहिए। राष्ट्र के नवनिर्माण में अनिवार्य शिक्षा का नियम तो होगा ही। उपर्युक्त उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम में ही हिन्दू बालकों के लिए प्राथमिक संस्कृत, मुसलमान बच्चों के लिए उनके धर्म-ग्रन्थों की भाषा का प्राथमिक ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय। ऐसा करने से आगे चलकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वे बालक इस ओर बढ़ सकेंगे, क्योंकि धार्मिक अथवा सांस्कृतिक संस्कारों का बीजारोपण तो हो ही चुकेगा। इस प्रस्ताव में शायद किसी को दकियानूसीपन की बू आए; परन्तु ऐसों के लिए तो शायद धर्म की चर्चा भी दक़ियानूसीपन से खाली नहीं। यदि बच्चों में धार्मिक प्रवृत्ति रखनी वांछनीय है, तब तो उपर्युक्त प्रस्ताव के अतिरिक्त और कोई व्यावहारिक निरापद मार्ग नहीं, क्योंकि इस प्रकार राष्ट्र के बच्चों में विविध धर्मों एवं संस्कृतियों के संस्कार तो जाग्रत होंगे ही, साथ-ही-साथ विविध मूल-भाषाओं का परिचय

उनके आधुनिक भाषा-ज्ञान की नींव को भी अधिक सुदृढ़ करेगा। इस तरह आपस के अनावश्यक संशय भी दूर हो जायंगे।

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप—आज से बीस वर्ष पहले राष्ट्रीय संगठन के लिए राष्ट्र-भाषा की उपयोगिता के विचार कांग्रेस के द्वारा हिन्दी को राष्ट्र-भाषा माना गया था। इसके प्रचार तथा प्रसार में महात्माजी का बहुत बड़ा योग रहा है शायद कोई भी ईमानदार व्यक्ति यह न कह सकेगा कि भाषा के पीछे किसी प्रकार के छल अथवा पक्षपात का लेश भी न था। क्योंकि इसके प्रधान पृष्ठ-पोषक थे महात्मा जी, जिनकी मातृ-भाषा थी गुजराती। अतः हिन्दी के प्रति उनके पक्षपात या अनुचित मोह का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किंतु ज्यों-ज्यों स्वाधीनता के युद्ध में गरमाहट आने लगी तथा स्वतन्त्रता के मन्दिर का शिखर—दूर से ही सही—दीख पड़ने लगा, त्यों-त्यों कितने ही निठल्ले खून लगाकर शहीद बनने वाले व्यक्ति भी कांग्रेस के पड़ाव के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगे। लड़ाकू पंक्तियों में जाना तो जेल के खतरे से खाली नहीं था, इसलिए तथाकथित रचनात्मक कार्यक्रम की ओट में अपना उल्लू सीधा करना और भाषा जैसे लगभग निर्विवाद मसलों पर फ़तवेबाज़ी करना ही इन लोगों का पेशा हो गया। ऐसे ही हिन्दी से अनभिज्ञ और उर्दू से कोरे कुछ व्यक्तियों ने लगभग १५-१६ वर्ष पूर्व कहीं की ईंट और कहीं के गारे से हिन्दुस्तानी भाषा बनाने के लिए एक संख्या गढ़कर अपनी 'मस्तिश्किक के कुव्वत' का परिचय दिया था। सच पूछा जाय तो आज की इसी नाम की दुरंगी भाषा के विधाता इन्ही संस्था के कर्णधार हैं। उन्होंने इसलिए ऐसा नहीं किया कि राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में उनका भाषा-विषयक यह कोई विचारपूर्ण प्रयोग था, वरन् इसीलिए कि यही एक मसला और यही एक भाषा उनके पल्ले पड़ी थी और महात्मा जी के शब्दों में 'दिमागी तौर पर ये बहुत सुस्त' शायद थे ही, 'लेकिन अंगरेजी के बोझ ने इनकी मानसिक शक्ति को बहुत पंगु बना दिया था'। नए सिरे से यह या वह भाषा

सीखना तो इनके लिए सम्भव नहीं था, अतः इन्होंने सरलता का सस्ता नारा लगाकर और भाषा के 'स्टैण्डर्डाइज़ेशन' का झण्डा उठाकर ही अपने अवसरवाद और अज्ञान को 'स्टैण्डर्डाइज़' करने का बीड़ा उठाया। 'ध्वनि' जैसे शब्द को ज़बर्दस्ती 'धुनि' कहना या 'संस्कृत' से 'संस्कीरत' प्रयोगों का चालू करना उपर्युक्त कथन के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

आए दिन उपदेश सुने जाते हैं कि हिन्दी-लेखकों को भाषा सरल लिखनी चाहिए। लेकिन इन उपदेशकों से कोई पूछे कि कठिन किन्तु सार्थक भाषा लिखना क्या ऐसा आसान काम है कि निष्प्रयास ही कोई भी कठिन भाषा लिख सकता है और सरल लिखने के लिए प्रयास करने की ज़रूरत है? कठिन और अर्थ-बहुल भाषा लिखने के लिए चाहिए अपार शब्द-भण्डार और गम्भीर विचार-विवेचन की शक्ति। यह दोनों वास्तव में कितनों के पास होते हैं? यों ही कोई अण्ड-बण्ड बके तो बात दूसरी है; किन्तु सार्थक तथा सारयुक्त कुछ भी कहना हो, तो स्वभाव मार्ग हो अधिक सीधा हुआ करता है। इसमें प्रयासपूर्ण दुरूहता का ही प्रश्न कहाँ उठता है? सच बात तो यह है कि हिन्दी के लेखकों को सरलता का आए दिन उपदेश देने वाले ये व्यक्ति हिन्दी के साधारण ज्ञान से भी हीन होते हैं, अतः हिन्दी की प्रत्येक कृति उन्हें कठिन ही जान पड़ती है। इसका इलाज ही क्या?

यों तो हिन्दी के ही समान हमारी भाषा का 'हिंदुस्तानी' नाम भी कई सौ वर्ष पुराना है अरब के सम्बन्ध के लेखों से ज्ञात होता है कि वहाँ वाले भारत को 'हिन्द' तथा यहाँ की उत्तर-भारतीय भाषाओं को 'हिन्दी' ही कहते थे। परन्तु तुर्कों ने 'हिन्दुस्तान' शब्द का अधिक प्रयोग किया है। कुछ दिनों पहले तक तो अनेक हिन्दी के भाषा-तत्त्व-वेत्ता भी समझा करते थे कि ग्रियर्सन ने ही शायद युक्त-प्रान्त की उत्तर-पश्चिम की बोली के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया

था। किन्तु आगे चलकर डा० 'सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने एक प्राचीन व्याकरण के आधार पर सिद्ध किया कि उर्दू-मिश्रित उत्तर-भारतीय भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' का योग पोर्चुगीजों ने किया था। किन्तु इससे भी पहले सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बाबर ने अपने जीवन-चरित्र में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग देश की चालू भाषा के अर्थ में किया था। उस समय तो उर्दू का जन्म भी नहीं हुआ था। यह स्पष्ट है कि प्राचीन समय में भी प्रचलित हिन्दी के लिए 'हिन्दुस्तानी' नामक प्रयोग होता था और उसमें फारसी या अरबी या अन्य विदेशी शब्दों की मिलावट की शर्त नहीं थी।

एक बार गान्धी जी ने कहा था—"बहुत अर्सा नहीं हुआ, उत्तर-भारत के लोगों की भाषा एक ही थी। वह उर्दू और देवनागरी लिपियों में लिखी जाती थी।...ग्रामीण जनता बड़े-बड़े शब्दों की, चाहे वे फारसी से लिये गए हों चाहे संस्कृत से, परवाह नहीं करती। ...वह (ग्रामीण जनता) जो भाषा बोलती है, केवल वही भारत की राष्ट्र-भाषा हो सकती है कि वह उसे सीखे।" महात्माजी के इस कथन से काफी हलचल मची। लोगों ने सन्देह प्रकट किया कि 'समूची या केवल उत्तर-भारत की ही सारी ग्रामीण जनता' कोई एक भाषा नहीं बोलती और न ग्रामीणों की भाषा या भाषाएँ इतनी समुन्नत हैं कि उनके आधार पर राष्ट्र-भाषा बनाई जा सके। पर यदि जरा गम्भीरता से विचार किया जाय, तो ये आशंकाएं अपने-आप मिट जाती हैं। साधारण व्यवहार में 'भाषा' और 'बोली' शब्दों का प्रयोग कुछ अनियमित-सा ही किया जाता है। अधिकांश तो इसके भेद को ठीक-ठीक जानते भी नहीं। यदि यह भेद स्पष्ट कर दिया जाय, तो गांधीजी के उपर्युक्त कथन की काफी स्पष्टता अपने-आप प्रमाणित हो जाती है। यदि सिद्धान्त रूप से देखा जाय, तो भाषा बहुत अधिक व्यापक संज्ञा है, जिसमें समान-रूप वाली विविध बोलियों के समूह का ज्ञान होता है—अर्थात् प्रत्येक भाषा का संगठन समान-रूप वाली कई

बोलियों तथा उपबोलियों को लेकर ही होता है। समान-रूपता के प्रधानतः तीन आधार होते हैं—शब्द-ग्रन्थन तथा उच्चारण। जिन बोलियों में इन तीनों अंगों की उचित समानता दीख पड़ती है, वे स्वभावतया एक समूह के रूप में संगठित हो जाती हैं। इसी समूह को भाषा की सत्ता दी जाती है।

इस दृष्टिकोण से समझने में देर न लगेगी कि उत्तर-भारत की ग्रामीण जनता सचमुच एक ही भाषा-सूत्र में बँधी हुई है। बोलियाँ विविध एवं विभिन्न अवश्य हैं, किन्तु सामूहिक रूप से एक ही भाषा के सूत्र से गुँथी हुई हैं। यही कारण है कि ब्रज-मण्डल या राजपूताने का निवासी अवधी के क्षेत्र में जाकर भी अपनी बात कहने में या दूसरे की समझने में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करता। भले ही वह अवधी बोली में बोल न सके, या अवधी वाला ब्रज-मण्डल की बोली में बोलने में असमर्थ हो; परन्तु उनका पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान सुगमता से हो जाता है। इसी व्यावहारिक सत्य के आधार पर हिन्दी को भाषा कहा जाता है, क्योंकि उसमें अवधी, व्रजभाषा, राजस्थानी, बावेली, बुन्देली इत्यादि कितनी ही बोलियाँ सम्मिलित हैं। उर्दू भी उसी के अन्तर्गत एक बोली ही है, क्योंकि उसका अपना कोई पृथक् बोली-समूह नहीं है। इसी से उसे हिन्दी की एक शैली एवं बोली कहा गया है और फिर, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, 'बोली' और 'भाषा' का पारस्परिक अटूट सम्बन्ध है। भाषा से किसी विशिष्ट आदर और बोली से निरादर की सूचना की आशंका करना अनावश्यक भ्रम है। हिन्दी और उर्दू के इसी सम्बन्ध के आधार पर तो राष्ट्र-भाषा की भित्ति खड़ी है। शब्द-भण्डार, शब्द-ग्रन्थन एवं उच्चारण की समता इस आधार का बड़ा बल है।

अब प्रश्न आता है कि इन विविध बोलियों की अनुन्नत अवस्था का। यह शंका भी निराधार है, क्योंकि आज तो राष्ट्र को एक, साधा-

रण भाषा की आवश्यकता है; प्रधानतः अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय के लिए, राष्ट्र-सन्देश के प्रचार और प्रसार के लिए। विविध प्रान्तीय भाषाओं के पृथक् अस्तित्व को न छूने की नीति का अभिप्राय ही यह था कि उच्चकोटि के साहित्य की रचना मनुष्य अपनी मातृ-भाषा में ही कर सकता है; अतः उस ओर सबको समान अवसर मिलना ही चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र-भाषा से तात्पर्य एक प्रकार की 'सरकारी भाषा' से ही है। निःसन्देह ऐसी भाषा का सफल संगठन प्रचलित बोलियों के आधार पर ही हो सकता है। लेकिन इस प्रकार से संगठित हमारे राष्ट्र की 'सरकारी भाषा' की रूपरेखा भी निश्चित तो होनी ही चाहिए।

लिपि की समस्या—अब प्रश्न है लिपि का। जातीय शिक्षा में लिपि का प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, और विशेषकर जब कि इसके साथ भी धर्म और संस्कृति का अस्तित्व जुड़ा हो। इस ओर खरी कसौटी तो वैज्ञानिकता की ही होनी चाहिए; किन्तु वर्त्तमान वातावरण उसके प्रतिकूल जान पड़ता है। फिर इस सम्बन्ध में तो एक तरह से निर्णय भी हो चुका है कि भारतीय राष्ट्र देवनागरी तथा फारसी दोनों लिपियों को समान रूप से स्वीकार करता है और प्रत्येक सरकारी कार्यवाही दोनो ही लिपियों में सुलभ होगी। और शब्द-कोष की एकता का स्वाभाविक निष्कर्ष ही यह होगा कि दोनों लिपियों में इबारत एक ही होगी। यही उचित भी है।

लेकिन तब प्रत्येक व्यक्ति के लिए दोनों लिपियों का जानना क्यों अनिवार्य होना चाहिए? जब इबारत एक ही होगी, तब क्या एक लिपि के जानने से काम न चलेगा? दोनों लिपियों के जानने का आग्रह तो कुछ ऐसा ही है, जैसे कि विख्यात वैज्ञानिक न्यूटन के विषय में प्रसिद्ध है। उनकी एक बिल्ली थी, जिसे वे बहुत अधिक प्यार करते थे। बिल्ली ने बच्चे दिये और प्राकृतिक नियमानुसार कभी-कभी वह उन बच्चों को बाहर भी उठा ले जाती थी। वापस

नों का उसका कोई निश्चित समय नहीं था। वक्त-बे-वक्त आकर
और बच्चे बन्द दरवाजा खोलने की चेष्टा किया करते थे। अत-
उनकी सुविधा तथा अपनी शान्ति के विचार से न्यूटन ने दर-
जे में छेद बनवाने का निश्चय किया। बढ़ई को बुलवाकर उन्होंने
हा कि दरवाजे में दो छेद बनाओ—एक छोटा और एक बडा, ताकि
ड़े छेद से बड़ी बिल्ली भीतर आ सके और छोटे-से-छोटे बच्चे।
ढ़ई इस आदेश से असमंजस में पड गया और डरते-डरते उसने
हा—'क्या बडे छेद से छोटे बच्चे भी अन्दर नहीं आ सकेंगे?' यह
नते ही न्यूटन को अपनी भूल ज्ञात हुई और जोर से हँसते हुए
न्होंने कहा—'भाई, तुम ठीक ही कहते हो। एक से ही काम
ल जायगा।'

महान् व्यक्तियों की भूलें भी असाधारण ही हुआ करती हैं।

: २६ :

# हमारी भाषा

( प्रो० हंसराज अग्रवाल )

यह हिन्द का दुर्भाग्य है कि 'हमारी भाषा' के प्रश्न ने भी यहाँ पर जटिल रूप धारण कर रखा है। यदि कोई जापान, इंग्लैण्ड, फ्रांस अथवा रूस आदि देशो में इस प्रकार का विषय लेकर अपनी लेखनी को उठाये तो पाठक उसकी बुद्धिमत्ता का उपहास उड़ायंगे, और वहाँ का लेखक लिखेगा भी क्या? क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि जापान की भाषा जापानी, इंग्लैण्ड की अंगरेज़ी, फ्राँस की फ्राँसीसी और रूस की रूसी है। किसी को इसमें मतभेद नहीं है; परन्तु अंगरेज़ी सरकार की नीति ने हिन्द में इस प्रश्न को जटिल-से-जटिलतर और जटिलतर-से जटिलतम बनाने मे कोई कसर नहीं छोड़ी। "मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की"। सैकड़ो नहीं हज़ारों पृष्ठ इस विषय पर पुस्तक-पुस्तिकाओं, पत्र पत्रिकाओं में लिखे जा चुके हैं; तो भी अनेक कारणों से, इस विषय की नवीनता उसी प्रकार बनी हुई है। इन कारणों के पीछे भी एक इतिहास है।

एक समय था, जब भारत में संस्कृत-वाणी बोली जाती थी। शनैः-शनैः उसका स्थान अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग प्राकृतों ने ले लिया। प्राकृतों का स्थान शनैः-शनैः देशी भाषाओं ने ले लिया। प्राचीन काल में इस मध्य-प्रान्त की वर्तमान भाषा को 'भाषा' कहकर

पुकारते थे। 'भाषा' का साधारण अर्थ है "आप बोली जाने वाली।" मुसलमानों ने उस समय उस भाषा को "हिन्दवी" और "हिन्दी" का नाम दिया और हिन्दुओं ने बड़ी उदारता से उसी नाम को स्वीकार कर लिया। राजनीतिक क्षेत्र में, हिन्दू-मुसलमानों में चाहे घोर विरोध रहा हो, पर साहित्य-क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों मे वास्तविक एकता थी। चार सौ से अधिक मुसलमान कवियों और लेखकों ने हिन्दी की प्रशंसनीय सेवा की है। हिन्दी-साहित्य का कोई भी विद्यार्थी मुसलमानों की हिन्दी-सेवा की उपेक्षा नही कर सकता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो यहाँ तक लिखा है कि इन मुसलमान कवियों पर लाखों हिन्दुओं को न्योछावर किया जा सकता है। हिन्दी उस समय हिन्द की राष्ट्र-भाषा थी। हिन्दुओं और मुसलमानों को—सबको इस पर गर्व था।

परिस्थितियाँ बदलीं। पराधीन भारत पर लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति का जादू चला। "भेद डालकर राज्य करो ( Divide and-rule )" की नीति के अनुसार साम्प्रदायिकता के विषैले बीज-वपन किये गए। वट-वृक्ष के बीज की भाँति यह चारों दिशाओं में खूब फला-फूला। परिणाम-स्वरूप भाषा का क्षेत्र भी इसके भयंकर प्रभाव से बच न सका।

ध्यान देने की बात है कि भाषा का सम्बन्ध देश और प्रान्त से हुआ करता है, न कि जाति-विशेष से। सब बंगालियों की प्रांतीय भाषा बंगाली है, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान। सब गुजरातियों की प्रान्तीय भाषा गुजराती है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। इसी प्रकार सब मराठों की प्रान्तीय भाषा मराठी है, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान। इस सिद्धान्त के निर्विवाद होने पर राजनीतिक कारणों से यह प्रचार किया गया कि सब मुसलमानों की अपनी भाषा उर्दू है, और हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। भोले-भाले मुसलमानों को यह सोचने की फुरसत कहाँ थी कि हिन्द से बाहर भी सब मुसलमानों की भाषा एक नहीं है। फ़ारस में फ़ारसी, अरब में अरबी, तुर्किस्तान में

तुर्की और अफ़ग़ानिस्तान में अफ़ग़ानी आदि भाषाएँ बोलते हैं। हिन्द की भाषा को स्वयं मुसलमानों ने (सबसे पहले खुसरो और जायसी ने) हिन्दी का नाम दिया और अब तक वे इसी भाषा को बोलते आये। परन्तु साम्प्रदायिकता के विषैले प्रभाव के कारण बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, यहाँ तक कि दूर-दक्षिण तक के मुसलमानों ने यही कहना आरम्भ किया कि 'हमारी भाषा उर्दू है', चाहे उर्दू का 'काला अक्षर उनके लिए भैंस बराबर' ही क्यों न हो?

बात स्पष्ट है, जिस प्रकार अरब की भाषा अरबी, फ़ारस की फ़ारसी और जापान की भाषा जापानी कहलाती है, उसी प्रकार हिन्द की भाषा का वास्तविक नाम "हिन्दी" ही हो सकता है। इतिहास बतलाता है कि हमारी भाषा को "हिन्दी" का नाम दिया भी मुसलमानों ने है। यह सब-कुछ होते हुए भी हमारे राष्ट्रवादी नेता साम्प्रदायिकता की लहर में बह गए और मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने प्रचार आरम्भ किया कि 'हिन्द की राष्ट्र-भाषा न संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है, न अरबी-फ़ारसी-मिश्रित उर्दू। वह तो सरल हिन्दुस्तानी है, जिसमें सरल हिन्दी और सरल उर्दू के शब्द पाये जाते हैं और जिसे सब भारतीय आसानी से समझ सकते हैं।

हिन्द की भाषा 'हिन्दी' का यह नाम-संस्कार क्यों? क्या हिन्दुस्तानी नाम अधिक सरल है? तो फिर अफ़ग़ानिस्तान वाले अपनी भाषा को अफ़ग़ानिस्तानी और बिलोचिस्तान वाले अपनी भाषा को बिलोचिस्तानी क्यों नहीं कहते? क्या किसी हिन्दी-भाषी ने कभी यह कहा है कि "हमारी राष्ट्र-भाषा का आदर्श क्लिष्ट संस्कृत-मिश्रित हिन्दी है।" हिन्दी-जगत् तो मुन्शी प्रेमचन्द जी की हिन्दी को आदर की दृष्टि से देखता है। मुन्शी प्रेमचन्द की हिन्दी आल इण्डिया रेडियो से भले ही सरल हो, परन्तु हमारे आल-इण्डिया-रेडियो को तो अपनी भाषा को हिन्दुस्तानी कहने में ही आनन्द आता है।

क्या हमारे आलोचकों को इस बात की आपत्ति है कि हिन्दी साहित्य में गम्भीर और क्लिष्ट चीजें भी विद्यमान हैं ? तो क्या अन्य भाषाओं के साहित्य में ऐसी चीजों का अभाव है ? यदि साधारण अंग्रेज, अंग्रेजी के उच्च-साहित्य को आसानी से न समझ सकें तो क्या वे अपनी भाषा का नाम ही बदल डालेंगे ?

आख़िर यह हिन्दुस्तानी है क्या चीज़ ? आधा तीतर, आधा बटेर । आधे शब्द हिन्दी के, आधे उर्दू के; और इस प्रकार एक बनावटी भाषा बनाई जा रही है । जिससे न हिन्दी-भाषियों को सन्तोष है, न उर्दू-भाषियों को । उर्दू किस प्रान्त की भाषा है, यह भी एक जानने की चीज़ है ।

राष्ट्र-भाषा का स्वरूप—केवल नाम पर ही नहीं, राष्ट्र-भाषा के स्वरूप पर भी हमें विशेष ध्यान देना होगा । मुसलमानों और अंग्रेज़ों की चिरकालीन दासता के कारण हमारी भाषा में अरबी, फारसी और अंग्रेज़ी शब्दों की प्रचुरता है । यही नहीं, बोलते समय हमारा किसी भी एक भाषा पर प्रभुत्व नहीं होता । भारतीय विश्वविद्यालय के किसी ग्रेजुएट का वार्तालाप अच्छा विनोद उत्पन्न करता है, कैसी सुन्दर खिचडी भाषा होती है । "वैल डियर, मैं फादर से आज टेन रुपये का नोट लेके इविनिंग में आपको सिनेमा के पास मिलूँगा ।" अंग्रेजी,हिन्दी का कैसा सुन्दर सम्मिश्रण है । क्या हम ऐसी भाषा पर ही गर्व करेंगे ? ऐसी भाषा के बोलने वाले ही हिन्दी पर विशेष आपत्ति उठाया करते हैं । हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारी भाषा का स्वरूप शुद्ध हो । राष्ट्रीय दृष्टि से हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारी राष्ट्र-भाषा के अन्दर यथा-सम्भव विदेशी शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए । आवश्यकता पडने पर हम राष्ट्र-भाषा के अन्दर बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, यहाँ तक कि तामिल, तेलगु, मलयालम और कनाडी आदि की प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों का ले ही समावेश कर लेवें; परन्तु अँग्रेजी,

जापानी, रूसी, फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग, जब कि इनके स्थान पर हिन्दी के सरल शब्द विद्यमान हैं; नितान्त हानिकर है।

"विदेशी भाषाओं का जितना अंश हमारी भाषा में शेष रहेगा, उतना ही हमारी संस्कृति के लिए घातक होगा।" हमारे मान्य-नेताओं को इस पर भली प्रकार विचार कर हमें सन्मार्ग दिखाना चाहिए और वह भी साहस के साथ।

पंजाब की समस्या—कुछ शब्द पंजाब की समस्या के विषय में भी। संयुक्त-पंजाब प्रान्त में कुल २९ ज़िले थे, जिनमें अम्बाला डिवीजन के सारे जिले तथा कांगड़ा और गुरदासपुर के पहाड़ी-प्रदेश हिन्दी-भाषी थे। तथा शेष २१-२२ जिले पंजाबी-भाषा। उस समय पंजाब की प्रांतीय भाषा उर्दू थी। पंजाबी-भाषियों तथा हिन्दी-भाषियों की ओर से अनेक आंदोलन होने पर भी हिन्दी-पंजाबी को समानता का अधिकार प्राप्त न हो सका। पंजाब के बटवारे के बाद परिस्थिति सर्वथा बदल गई। पूर्वी-पंजाब के १३ जिलों में ७ जिले हिंदी-भाषी हैं और केवल ६ जिले पंजाबी-भाषी। जैसे हिंदी-भाषी जिलों में पंजाबी बोलने वाले भी काफ़ी संख्या में हैं, ऐसे ही पंजाबी-भाषी जिलों में हिंदी बोलने वालों की संख्या बहुत है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी और पंजाबी में पारस्परिक विरोध नहीं। दोनों संस्कृत की पुत्रियां हैं और उनमें आपस में बहनों-जैसा प्रेम होना ही चाहिए। गुरु नानक तथा गुरु गोविंदसिंह जी की वाणी को पंजाबी-भाषी बड़ी श्रद्धा और भक्ति से पढ़ते हैं तथा हिंदी-काव्य में उसे विशेष आदर का स्थान देते हैं जो इन बहनों को आपस में लड़ना अथवा इनमें फूट डलवाना चाहते हैं, उनकी इसमें कोई कूटनीति है, यह हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए। हिंदी और पंजाबी का स्रोत एक ही होने के कारण इनकी संज्ञाएं, सर्वनाम, विशेषण तथा अनेक क्रियाएँ आपस में मिलती हैं, बल्कि समान ही हैं। ऐसी अवस्था में स्थिति

स्पष्ट है कि पंजाब में प्रारम्भिक शिक्षा हिंदी अथवा पंजाबी में बालकों के इच्छानुसार हो। चौथी-पाँचवी श्रेणी से प्रत्येक विद्यार्थी के लिए दूसरी भाषा का पढना भी आवश्यक हो। प्रत्येक सरकारी नौकर के लिए हिन्दी और पंजाबी दोनों भाषाओं का जानना आवश्यक हो और कचहरियों तथा दफ्तरों मे सबको दोनों भाषाओं के व्यवहार की सुविधा हो।

पंजाब-विश्वविद्यालय ने पंजाबी-भाषा को सर्व-प्रिय बनाने के लिए परीक्षार्थियों को यह सुविधा दी थी कि वे अपने उत्तर गुरुमुखी, फारसी अथवा देवनागरी, किसी भी लिपि में लिख सकते थे। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि पंजाबी के प्रचार में इस सुविधा से बडा लाभ पहुँचा है। तदनुसार प्रारम्भिक श्रेणियों के छात्रों को यह सुविधा होनी चाहिए कि वे नागरी अथवा गुरुमुखी लिपि को इच्छानुसार अपना सकें। पंजाब-निवासियों को उचित है कि वे इस प्रश्न पर शुद्ध-सात्विक दृष्टिकोण से, शान्ति-पूर्वक विचार करें, जिससे कि हमारा प्रान्त दूसरे प्रान्तों के मुकाबले में गर्व के साथ अपना मस्तक उन्नत कर सके। इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता की कटुता आ जाने से तो हमारी हानि-ही-हानि है। प्रभु हमें सद्-बुद्धि प्रदान करे।

◆

: ३० :

# हिन्दुस्तानी की मर्यादा क्या है ?

( माननीय घनश्यामसिंह गुप्त )

हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू का विवाद जनता का ध्यान अब स्वभावतः अधिक आकर्षित कर रहा है। पूर्व-संचित भावनाओं के कारण और नारों के पीछे चलने के कारण, इस विवाद में विचार का कुछ अभाव दीखता है। इस विषय पर आवेगों को छोड़कर युक्ति से ही विचार किया जाय तो अच्छा हो। विवाद, भाषा और लिपि दोनों के सम्बन्ध में है। इस छोटे से लेख में भाषा के सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा। सम्भव है कि इससे लिपि के विषय में विचार करना आवश्यक हो जाय।

हिन्दुस्तानी की परिभाषा मैं इस प्रकार करूँगा:—वह भाषा जिसमें हिन्दी और उर्दू का भेद नहीं रह जाता, जिसमें दोनों घुल-मिल कर एक हो जाती हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानों में इसकी शब्दावली में भेद रहता है। पंजाब और दिल्ली की हिन्दुस्तानी में मध्यप्रदेश की अपेक्षा अधिक उर्दू शब्द होंगे। छत्तीसगढ़ में तो उर्दू शब्दों का छींटा रहेगा। यह हिन्दुस्तानी उन-उन स्थानों की बोल-चाल की भाषा है। ब्रिटिश-राज्य-सत्ता के कारण, उच्च शिक्षा, कानून अदालत आदि की भाषा अँगरेजी रही है। यहाँ तक कि काँग्रेस के प्रस्ताव भी प्रायः अँगरेजी में ही हुआ करते थे। अतः

अँगरेजी के अपने विस्तृत क्षेत्रों से बचे-खुचे क्षेत्रों में ही हिन्दुस्तानी से काम होता था। यथा-साधारण बोल-चाल, व्याख्यान और साधारण पुस्तकें। इन सब कामों के लिए हिन्दुस्तानी पर्याप्त होती थी। उससे ये सब काम भली प्रकार से निकल जाते थे। विशिष्ट शब्दावली के प्रयोग की आवश्यकता न होने से हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के वास्तविक विवाद का कोई प्रसंग ही न था।

हमारी राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद यह स्वाभाविक इच्छा होने लगी कि अँगरेजी भाषा के साम्राज्य का भी अन्त किया जाय, और उसका स्थान अपनी भाषा को मिले। इस का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि जहाँ अब हमारी भाषा बोल-चाल की थी और जिसकी शब्दावली मेरे अन्दाज से दो हजार शब्दों से अधिक नहीं थी, वहाँ अब उसे उच्च शिक्षा, विज्ञान, कानून और विधान आदि की भाषा भी होना है, जिसके लिए लाखों शब्दों की शब्दावली अनिवार्य है; जिसमें सूक्ष्म विचारों में भेद दिखाने वाले शब्दों की आवश्यकता है। यथा—प्रेशर और इम्प्रेशन में; क्लोराइड, क्लोराइट और क्लोरेट में; पेनैल्टी, पनिशमेंट और सेन्टेन्स और हजारों ऐसे दूसरे शब्दों में।

हमें यह भी स्मरण रखना है कि हमारा प्रयत्न आज के लिए नहीं, बल्कि भावी सन्तानों के लिए है और हमें वह करना है जो उनकी उन्नति में साधक हो, चाहे वह आज हमारे लिए सुविधाजनक न हो और चाहे उससे हमारी भावनाओं पर कुछ आघात भी पहुँचता हो। यह भी देखना है कि हमारी शब्दावली ऐसी हो, जो भारत अधिराज्य की अन्य भाषाओं को भी समान रूप से ग्राह्य हो सके, यथा—मराठी, बंगला, तेलगू आदि जो कि सब-की-सब या तो संस्कृत से पैदा हुई या संस्कृत-प्रचुर हैं। हमें यह भी देखना होगा कि हमारे शब्द प्रायः ऐसे हों जिनसे तद्भव और व्युत्पन्न शब्द सरलता से बन सकें। कई स्थानों में तो इनका लम्बा परिवार होता है। हमें यह भी देखना है कि हमारे शब्द अपने अर्थ स्वयं द्योतक हों। किसी शब्द के

अर्थ को जानने के लिए उसे घोखना, कण्ठ करना न पड़े, किन्तु स्वयं शब्द ही बता दे कि उसका अमुक अर्थ है। यथा पाठशाला स्कूल अपने अर्थ को नहीं बताता। सुसंस्कृत सार्थक शब्द भावी विद्यार्थी के मानसिक और बौद्धिक उन्नति में साधक होगा और प्रत्येक असंस्कृत अनर्थक शब्द उसको भार रूप होगा, चाहे वह आज हमारे लिए कितना भी परिचित और सहल क्यों न हो।

यह छोटा-सा लेख लम्बा न हो इस गरज से मैंने केवल मुद्दे की बातें ही लिखी हैं और उन सबके उदाहरण नहीं दिये हैं। कालेज की पढ़ाई के लिए वैज्ञानिक शब्दावली बनाने का कार्य देखने का मुझे मौका मिला और अपनी विधान-सभा (असेम्बली) के लिए शब्दावली बनाने का कार्य मुझे स्वयं करना पड़ा। इससे मैं निम्न परिणाम पर पहुँचा हूँ।

(१) हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू का मिश्रण और यदि रासायनिक शब्द के प्रयोग के लिए क्षमा मिले तो कहूँगा, हिन्दी-उर्दू का घोल, साधारण जनता की बोल-चाल की भाषा है और रह सकती है। इसका शब्द-भण्डार सीमित है। मेरे अन्दाज से दो हज़ार शब्दों से भी कम है। यह उच्च शिक्षा, कानून और प्रबन्ध की भाषा नहीं हो सकती, जिसके लिए लाखों का शब्द-भण्डार आवश्यक है। इस महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए हिन्दुस्तानी को बढ़ाने की धारणा उसे ही ख़त्म कर देगी, जिस प्रकार कि बच्चों के फुग्गे को मर्यादा से अधिक बढ़ाने के यत्न में वह फूट जाता है। एक ही ख़ूबी जिसके कारण हिन्दुस्तानी का राग गाया जाता है, अर्थात् उसकी सरलता साधारण जनता की समझ में आना वह समाप्त हो जायगी। दो हज़ार से लाखों का शब्द-भण्डार बनना और वह फिर हिन्दुस्तानी, हिन्दी-उर्दू का मिश्रण दीखती रहे, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि अव्यवस्थित रीति से एक शब्द हम संस्कृत से लें और दूसरा अरबी या फारसी से (लीगल के लिए 'वैध' तो लालेस के लिए "ग़ुलाक़िानून

'एर्नान' करेंगे ।) यह शब्द भावी-सन्तान के लिए सर्वथा नये, निरर्थक और कठिन होंगे, और अरबी से बने हुए होने के कारण हमारी भाषाओं से, जिनकी जननी संस्कृत है, असम्बद्ध होंगे। हमारे भावी विद्यार्थियों के लिए भार-रूप होकर उनकी बुद्धि को धीरे-धीरे अदृश्य रूप से, परन्तु निश्चय-पूर्वक थोथी बनाने का कार्य करते रहेंगे।

(२) हिन्दुस्तानी की उपरोक्त मर्यादा को यदि हम ध्यान में रखें तो वह हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा भी बन सकती है, किन्तु साधारण जनता के लिए बोल-चाल के लिए।

(३) उच्च-शिक्षा, कानून और प्रबन्ध आदि की भाषा या तो (अ) हिन्दीः प्रायः संस्कृत-जन्य या (ब) उर्दू प्रायः अरबी-फारसी-जन्य या अंगरेजी हो सकती है। इसके सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं, और जब हमें इन तीनों में से एक चुनना है तो इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि वह हिन्दी ही होगी।

◆